# “स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा की भूमिका का अध्ययन“

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी की एम०एड० उपाधि
की आंशिक पूर्ति हेतु प्रस्तुत

## लघु शोध प्रबन्ध

**सत्र 2014-15**

निर्देशक
डॉ० अमरनाथ दत्त गिरि
एसोसिएट प्रोफेसर
शिक्षक-शिक्षा विभाग
अतर्रा पी०जी०कॉलेज, अतर्रा
(बाँदा)

शोधार्थी
धर्मेन्द्र सिंह
(एम०एड०छात्र)

अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज, अतर्रा
(बाँदा) उ०प्र०

# "स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा की भूमिका का अध्ययन"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी की एम०एड० उपाधि
की आंशिक पूर्ति हेतु प्रस्तुत

## लघु शोध प्रबन्ध

**सत्र 2014-15**

निर्देशक
डॉ० अमरनाथ दत्त गिरि
एसोसिएट प्रोफेसर
शिक्षक-शिक्षा विभाग
अतर्रा पी०जी०कॉलेज, अतर्रा
(बाँदा)

शोधार्थी
धर्मेन्द्र सिंह
(एम०एड०छात्र)

अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज, अतर्रा
(बाँदा) उ०प्र०

# घोषणा-पत्र

मैं धर्मेन्द्र सिंह पुत्र श्री राजेश सिंह, एम0एड0 छात्र (सत्र 2014–15) अतर्रा पी0जी0 कालेज, अतर्रा घोषणा करता हूँ कि ''स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा की भूमिका का अध्ययन'' शीर्षक से प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध मेरा अपना मौलिक कार्य है। इसे न तो अन्यत्र प्रस्तुत किया गया है और न ही कहीं प्रकाशित।

शोधार्थी
Dsingh
**धर्मेन्द्र सिंह**
(एम0एड0 छात्र)

दिनांकः– 18/04/2015

स्थानः– अतर्रा–बांदा

# शोध निर्देशक का प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **धर्मेन्द्र सिंह** पुत्र **श्री राजेश सिंह** एम0एड0 छात्र के रूप में सत्र 2014–15 के मध्य मेरे निर्देशन में ''स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा की भूमिका का अध्ययन'' शीर्षक से अपना लघु शोध प्रबन्ध पूरा किया है।

**मैं इस लघु शोध प्रबन्ध को एम0एड0 परीक्षा की आंशिक पूर्ति हेतु मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।**

निर्देशक

**डॉ0 ए0एन0डी0 गिरि**
(एसोसिएट प्रोफेसर)
शिक्षक–शिक्षा विभाग
अतर्रा पी0जी0 कालेज, अतर्रा
बाँदा

दिनांकः– 18.4.15

स्थानः– अतर्रा–बाँदा

# आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम मैं अपने शोध निर्देशक एवं शिक्षक–शिक्षा विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ0 अमरनाथ दत्त गिरि का आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सहयोग एवं निर्देशन से यह लघुशोध प्रबन्ध समय से पूरा हुआ है।

मैं शिक्षक–शिक्षा विभाग के असिस्टेन्ट प्रोफेसर डॉ0 राजीव अग्रवाल एवं डॉ0 सुशील कुमार का भी विचार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरा उत्साह वर्धन किया है। मैं अपने सहपाठियों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनके पारस्परिक संवाद के कारण मुझे इस लघु शोध प्रबन्ध को पूरा करने में महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ।

मैं अपने पिता श्री राजेश सिंह एवं माता श्रीमती शकुन्तला देवी के प्रति अपना श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ जिनके सहयोग, समर्थन एवं सकारात्मक दृष्टिकोण के कारण इस लघुशोध प्रबन्ध को पूरा करने में समर्थ रहा। मैं अपने मित्रों का भी आभारी हूँ जिन्होंने लघुशोध प्रबन्ध को पूरा करने में मेरा सहयोग किया है।

शोधार्थी

DSingh

**धर्मेन्द्र सिंह**

(एम0एड0 छात्र)

दिनांक– 18/04/2015

स्थान– अतर्रा–बांदा

# अनुक्रमणिका

# प्रथम अध्याय

# प्रथम अध्याय

## विषय प्रवेश

**प्रस्तावनाः-**

प्रस्तुत लघु शोध कार्य एक ऐतिहासिक शोध है जो स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा की भूमिका पर आधारित हैं। स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा की भूमि एक ऐसा प्रसंग है, जिस पर विवेचना करने से पहले हमें यह देखना होगा कि इसके पूर्व शिक्षा की क्या स्थिति थी।

प्राचीन काल में भारतीय शिक्षा अपने उत्तम शिखर पर थी। यद्यपि विश्व की कुछ अन्य सभ्यताएं जैसे यूनान, रोम, और मिस्र प्राचीन काल मूं उच्च कोटि की शिक्षा व्यवस्था थी, जहां ज्योतिष, गणित, इतिहास, साहित्य एवं कला और दर्शन आदि सर्वोच्च विधाओं की शिक्षा दी जाती थी। उस काल में भारत में योग, दर्शन और ज्योतिष के साथ-साथ संस्कृत साहित्य कला एवं विज्ञान भी फल-फूल रहा था। धीरे-धीरे विश्व की अन्य सभ्यताएँ मिटती चली गयी। भारतीय सभ्यता और संस्कृति भी संघर्षो और तनावों से गुजरी, लेकिन यह भारतीय शिक्षा ही थी जिसने कि प्राचीन काल से आज तक भारत की सॉंस्कृतिक धरोहरों को संजोए रखा है। इतने वर्षो बाद भी भारत की उन, प्राचीन परम्पराओं को हमारी शिक्षा व्यवस्था ने अक्षुण्ण बनाये रखा। प्राचीन काल में शिक्षा गुरूकुलों में ऋषियों और मुनियों के द्वारा प्रदान की जाती थी, जहाँ वेदों, पुराणों, उपनिषदों के साथ-साथ साहित्य, कला एवं विज्ञान, इतिहास आदि का गहन अध्ययन कराया जाता था। इस काल की शिक्षा की दो विशेषताएं-एक तो शिक्षा का धर्म पर आधारित होना और दूसरा शिक्षा की कोई निश्चित प्रणाली एवं पाठ्यक्रम का न होना।

वैदिक युग के बाद भारत के इतिहास में महाकाव्य काल आता है। इस काल में भी हमें वैदिक युगीन शिक्षा प्रणाली के दर्शन होते है। लेकिन कालान्तर में हम यह पते है कि जाति पाँति के बन्धनों के कठोर हो जाने के कारण शिक्षा केवल समाज के ब्राम्हणों तथा उच्च कुलीन वर्ग तक ही सीमित रह गयी। मध्यम वर्ग अपने दैनिक कार्यकलापों में सुविधा के लिए थोड़ी बहुत शिक्षा प्राप्त करता था, तो निम्न वर्ग बिल्कुल ही अशिक्षित था। बौद्ध एवं जैन काल में जाति बन्धनों के ढीला होने एवं शिक्षा पर ब्राम्हणों के एकाधिपत्य समाप्त होने से एक बार पुनः भारतीय शिक्षा की प्रतिष्ठा प्रतिस्थापित हुई। इस काल में नालन्दा और तक्षशिला जैसे उच्च कोटि के विश्वविद्यालय थे। मौर्य और गुप्तकाल में भी शिक्षा की प्राचीन वैदिक युग की परम्परा का निर्वाह होता रहा।

भारत में मुस्लिम अधिपत्य के साथ यहाँ दो प्रकार की शिक्षा व्यवस्था–हिन्दू शिक्षा और मुस्लिम शिक्षा देखने को मिलती है। यह दोनों शिक्षा प्रणालियाँ आपस में एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न थी। जहाँ एक ओर मुस्लिम शिक्षा को शासकों का संरक्षण प्राप्त था। वहीं दूसरी ओर हिन्दू शिक्षा संरक्षकों के अभाव में पल रही थी। लेकिन संरक्षण के अभाव में भी हिन्दुओं ने अपनी प्राचीन शिक्षा परम्परा को जीवित रखा। जिस समय भारत में अंग्रेजों ने अपने पैर जमाने शुरू किये उस समय भारत पर मुगल शासकों का अधिपत्य था। मुगल साम्राज्य धीरे–धीरे पतन के गर्त में जा रहा था। अंग्रेजों ने भारत को राजनीतिक परिस्थितियों का लाभ उठाकर यहाँ पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। साम्राज्य स्थापना के बाद अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक वर्षो में भारतीयों की शिक्षा का कोई प्रयास नहीं किया। उस समय की शिक्षा संस्थायें धन के अभाव में या तो बहुत कठिनता से चल रही थी या धीरे–धीरे समाप्त होती जा रही थी। अंग्रेजों के शासकीय कार्यो में जब

सस्ते सेवकों की आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने भारतीयों को शिक्षित करने के लिये सोचा। भारतीयों को प्राच्य शिक्षा दी जाय या पाश्चात्य इस विषय पर काफी मतभेद रहा। अन्त में उन्होंने पश्चिमी शिक्षा के आधार पर ही शिक्षित करने का निश्चय किया। इस निर्णय के बाद से अंग्रेजों ने भारतीयों की शिक्षा के लिये प्रयास करने आरम्भ किये। अंग्रेज भारतीयों को इस प्रकार की शिक्षा देना चाहते थे जिससे भारतीय हमेशा–हमेशा के लिए उनके गुलाम बने रहें। अंग्रेज अपनी इस नीति में काफी हद तक सफल रहे, लेकिन यह अंग्रेजी शिक्षा का ही प्रभाव था, जिससे भारत में पुनर्जागरण युग आया। धीरे–धीरे शिक्षा का प्रभाव इतना बढ़ गया कि अब शिक्षित भारतीय अपने ज्ञान का प्रयोग अंग्रेजी शासन और साम्राज्यवादी, शोषणकारी प्रकृति का विश्लेषण, आलोचना और साम्राज्यवाद विरोधी राजनैतिक आन्दोलन को संगठित करने के लिए करने लगे। राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व भी इन्हीं शिक्षित भारतीयों ने किया। यह लोग पढ़े लिखे न होतें तो यह नहीं कहा जा सकता है कि भारतीयों की स्वशासन की मांग को और कितना समय लगता।

उपरोक्त पृष्ठभूमि के आधार पर भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा कहाँ तक प्रभावी सिद्ध हुई, शिक्षा इस तथ्य का विश्लेषण करने के लिये मैने "स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा की भूमिका का अध्ययन" विषय का चयन किया।

इस लघु शोध कार्य के उपरोक्त विषय का चयन करने की आवश्यकता इसलिये समझी गयी क्योंकि यह विषय अभी भी अत्यन्त विवादास्पद है। कुछ लोग स्वतंत्रता आन्दोलन को शैक्षिक जागृति के द्वारा प्रारम्भ हुआ मानते है तो कुछ शिक्षा को स्वतंत्रता प्राप्ति का केवल एक साधन मानते है। प्रस्तुत शोध के माध्यम से इन विवादों को एक निश्चित दिशा देने का प्रयास किया गया है।

## अध्ययन का उद्देश्यः-

प्रत्येक शोध किसी न किसी समस्या पर आधारित होता है और प्रत्येक समस्या के अध्ययन का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। प्रस्तुत अध्ययन भी तीन प्रमुख उद्देश्यों पर आधारित है:-

1. इस शोध के विषय के सम्बन्ध में तथ्यों के आधार पर प्रमाणिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन करना अर्थात स्वतंत्रता आन्दोलन के काल के शैक्षिक इतिहास के बारे में जानना, इस शोध का उद्देश्य है।
2. प्राप्त तथ्यों के आधार पर तत्कालीन शैक्षिक परिस्थितियों के विविध पक्षों का विश्लेषण करना।
3. इस स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा की क्या भूमिका रही इसका आलोचनात्मक अध्ययन करना तथा निष्कर्ष निकालना।

## अध्ययन की विधिः-

यह एक ऐतिहासिक शोध है क्योंकि इसमें शिक्षा के इतिहास की घटनाओं का अध्ययन और विश्लेषण किया गया है। ऐतिहासिक शोध में आंकड़ों का संकलन दो स्रोतों प्राथमिक स्रोत और गौण स्रोत से किया जाता है।

प्राथमिक स्रोत में, वे प्रमाण आते है जो देखे गये हों, सुने गये हो या जिनका प्रत्यक्ष निरीक्षण किया जा सके। जैसे– शासकीय अभिलेख, आत्मकथा, समाचार पत्र, भवन, पोशाक, सिक्के, मूर्तियां आदि।

गौण स्रोत, वे होते हैं जिन्हें व्यक्ति स्वयं देखता या सुनता नहीं है, अर्थात यह घटनाओं के परोक्ष प्रमाण होत है जैसे–पुस्तकें, व्यक्तियों के प्रतिवेदन विश्वकोष तथा

साहित्यिक ग्रंथ आदि।

प्रस्तुत शोध में प्राथमिक स्रोतों के उपलब्ध न होने के कारण गौण स्रोत का प्रयोग किया गया है।

**शोध शीर्षक का परिभाषीकरण एवं परिसीमनः-**

प्रस्तुत शोध समस्या का शीर्षक है– ''स्वतंत्रता आन्दोलन में शिक्षा की भूमिका का अध्ययन'' शीर्षक के पदों के परिभाषीकरण निम्न पंक्तियों में किया गया है।

1. स्वतंत्रता आन्दोलन–ब्रिटिश शासन के विरूद्ध भारतीयों में विद्रोह की भावना प्रारम्भ से थी। इसका प्रकटीकरण अलग–अलग समयों में अलग–अलग रूपों में होता रहा, किन्तु 1857 का आन्दोलन भारतीयों के लिए गौरवपूर्ण है। यह बहुत व्यापक था भारतीय आन्दोलनों के इतिहास में मील का पत्थर है। अतः 1857 से लेकर 1947 तक के अवधि को शैक्षिक अध्ययन का आधार बनाया गया।
2. शिक्षा की भूमिका– इस अवधि में ब्रिटिश सरकार एवं स्वतंत्रता आन्दोलन के नेताओं के प्रयत्नों से जन शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रगति हुई इसके विवरण तक सीमित है।
3. अध्ययन– यह उपलब्ध प्रमाणिक पुस्तकों में दिये गये विवरणों तक सीमित हैं पुस्तकों का उल्लेख सन्दर्भ ग्रन्थ सूची में किया गया है।

# द्वितीय अध्याय

# द्वितीय अध्याय

## सम्बन्धित साहित्य का अर्थः-

सम्बन्धित साहित्य से तात्पर्य अनुसंधान की समस्या से सम्बन्धित उन सभी प्रकार के पुस्तकों, ज्ञान–कोषों, पत्र–पत्रिकाओं, प्रकाशित तथा अप्रकाशित शोध–प्रबन्धों एवं अभिलेखों आदि से है, जिनके अध्ययन से अनुसंधानकर्ता को अपनी समस्या के चयन, परिकल्पनाओं के निर्माण, अध्ययन की रूपरेखा तैयार करने एवं कार्य को आगे बढ़ाने में सहायता मिलती है।

## सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण के कार्यः-

सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण के मुख्य रूप में निम्नलिखित पांच कार्य हैं:–

1. यह अनुसंधान– कार्य के लिए आवश्यक सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि प्रदान करता है प्रत्येक प्रत्यय और धारणा को स्पष्ट करता है।
2. इसके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समस्या– क्षेत्र के अनुसंधान की स्थिति क्या है? क्या कब, कहां, किसने और कैसे अनुसंधान–कार्य किया है? इसके ज्ञान द्वारा अपने अध्ययन की योजना बनाना सुविधाजनक हो जाता है।
3. सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण, अनुसंधान के लिए अपनायी जाने वाली विधि, प्रयोग में लाये जाने योग्य उपकरण तथा आंकड़ों के विश्लेषण के लिए प्रयोग में लाये जाने योग्य उपकरण तथा आंकड़ों के विश्लेषण के लिए प्रयोग में आने वाली उपयुक्त विधियों को स्पष्ट करता है।
4. यह इस तथ्य का भी आभास देता है कि लिया गया अनुसंधान कार्य किस सीमा तक सफल हो सकेगा और प्राप्त निष्कर्षो की उपयोगिता क्या होगी?

5. इसका एक महत्वपूर्ण कार्य समस्या के परिभाषीकरण अवधारणा बनाने, समस्या के सीमांकन और परिकल्पना के निर्माण में सहायता करना है।

**सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन का महत्वः-**

वस्तुतः सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन के बिना अनुसंधानकर्ता का कार्य अन्धे के तीर के समान होगा। इसके अभाव में उचित दिशा में वह एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। जब तक उसे ज्ञात न हो कि उस क्षेत्र में कितना कार्य हो चुका है, किस विधि से कार्य किया गया है तथा उसके निष्कर्ष क्या आये है तब तक वह न तो समस्या का निर्धारण कर सकता है और न उसकी रूप रेखा तैयार कर कार्य को सम्पन्न ही कर सकता है। गुड बार तथा स्केटस कहते है "एक कुशल चिकित्सक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने क्षेत्र में हो रही औषधि सम्बन्ध आधुनिकतम खोजों से परिचित होता रहे, उसी प्रकार शिक्षा के जिज्ञासु छात्र, अनुसंधान के क्षेत्र में कार्य करने वाले तथा अनुसन्धानकर्ता के लिए भी उस क्षेत्र से सम्बन्धित सूचनाओं एवं खोजों से परिचित होना आवश्यक है।"

डब्ल्यू आर बोर्ग के अनुसार किसी भी क्षेत्र का साहित्य उस आधारशिला के समान है जिस पर सम्पूर्ण भावी कार्य आधारित होता है। यदि सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण द्वारा इस नींव को दृढ नहीं कर लेते तो हमारे कार्य की प्रभावहीन एवं महत्वहीन होने की सम्भावना है अथवा यह पुनरावृत्त भी हो सकता है।

इस प्रकार सभी लेखकों ने एकमत से अनुसंधान कार्य की सफलता के लिए सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन अपरिहार्य माना है।

## सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण के उद्देश्यः-

गुडबार तथा स्केट्स ने साहित्य के सर्वेक्षण के उद्देश्य की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह निम्नांकित तथ्यों को स्पष्ट करता हैः–

1. क्या उपलब्ध प्रमाण समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत करते हैं?
2. यह सर्वेक्षण उन सिद्धान्तों, व्याख्याओं तथा परिकल्पनाओं का विचार प्रदान करता है जो अपने अध्ययन की समस्या के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण होते है।
3. यह समस्या के समाधान हेतु अनुसंधान की समुचित विधि का सुझाव देता है।
4. तुलनात्मक आंकड़ों को प्राप्त करने व उनके विश्लेषण में सहायक होता है।
5. सम्बन्धित साहित्य का गम्भीर अध्ययन अनुसंधानकर्ता के ज्ञानकोष की वृद्धि करता है।

## शोध विषय से सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षणः-

किसी भी विषय पर शोध करने से पहले उस विषय से सम्बन्धित साहित्य का पुनरावलोकन करना आवश्यक होता है। क्योंकि यह पूर्व शोध, वर्तमान अध्ययन किये जाने वाले शोध की समस्या पर प्रकाश डालने में समर्थ होते है और शोध कार्य को आगे बढ़ाने के लिए दिशा निर्देश प्रदान करते हैं। अतः मैने भी अपने विषय से सम्बन्धित तथा उससे मिलते–जुलते कुछ पूर्व शोध कार्यो का पुनरावलोकन किया।

श्री यू0एन0 दीक्षित ने 1976 में ''ब्रिटेन का भारतीय शिक्षा नीतियों पर प्रभाव'' विषय पर शोध (P.hd.) किया। इनके शोध कार्य के उद्देश्य थे–

1. सन् 1854 से 1904 तक भारत में शैक्षिक विकास का अध्ययन करना।
2. इसी काल में इंग्लैण्ड की शिक्षा में हुए परिवर्तन का अध्ययन करना।

3. इस बात का अध्ययन करना कि किस प्रकार भारतीय शिक्षा ब्रिटेन की शिक्षा नीतियों से प्रभावित हुई।

इस अध्ययन में ऐतिहासिक विधि का प्रयोग किया गया है। इसमें ऐतिहासिक सामग्री का प्रयोग प्राथमिक और गौण स्रोतों के रूप में किया गया है जो कि राष्ट्रीय अभिलेखागार, केन्द्रीय सचिवालय, लाइब्रेरी और राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता से प्राप्त किये गये हैं।

इस शोध के जो प्रमुख निष्कर्ष निकले, वह है–प्रारम्भ मेंं ब्रिटिश शिक्षा नीति का रूख भारतीय शिक्षा से अपने आपको अलग रखने का था, लेकिन धीरे–धीरे इस रूख में परिवर्तन आया और अन्त में यह शिक्षा के प्रति अत्यन्त सम्बद्धता के रूप में बदल गया। शैक्षिक इतिहासकारों ने अंग्रेजों के अधोमुख निस्यंदन सिद्धान्त की इसलिए तीव्र आलोचना की क्योंकि उस समय, जबकि कुछ अन्य देश शिक्षा के प्रयास कि लिए प्रयत्नशील थे, इंग्लैण्ड शिक्षा के प्रसार के बजाय गुणात्मक सुधार पर अधिक बल दे रहा था। भारत में शिक्षा के केन्द्रीयकरण का प्रयास लार्ड रिपन पर शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन भी ब्रिटेन की शिक्षा नीति से प्रभावित था। शिक्षा पर सरकार का कठोर नियंत्रण भी ब्रिटिश शिक्षा का प्रभाव था। ब्रिटेन की शिक्षा नीति ने ही सर्वप्रथम भारतीय शिक्षा को परीक्षा पद्धति से और सहायता अनुदान से परिचित कराया।

"अधोमुख निस्यंदन सिद्धान्त" अंग्रेजों का वह सिद्धान्त था, जिसके द्वारा यह सोचा गया था, कि उच्च और मध्यम वर्ग के कुछ लोगों को शिक्षित कर दिया जाय और यह शिक्षित वर्ग साधारण जनता में शिक्षा के प्रसार का कार्य करें। इस प्रकार यह शिक्षा का उच्च वर्ग से छन कर निम्न वर्ग को प्राप्त होने का सिद्धान्त था।

श्री ए0एस0 राज ने 1969 में ''ब्रिटिश काल में भारतीय सरकार की शैक्षिक नीतियों'' पर शोध (P.hd.) किया है।

प्रस्तुत अनुसंधान में भारत सरकार की नीति निर्णयों का अध्ययन है, जो कि ब्रिटिश काल में भारतीय शिक्षा के विभिन्न पहलुओं के बारे में रही। यहां पर भारत सरकार का तात्पर्य फोर्ट विलियम की उस सर्वोच्च सरकार से है, जब तक कि भारत का शासन अंग्रेजी ताज के अधीन नहीं हो गया था।

इस अध्ययन में पुस्तकालय शोधों का प्रयोग किया गया है। विभिन्न हस्तलिपियां छपे रिकार्ड, सांख्यिकीय उद्धरण, पंचवर्षीय पुनरावलोकन और विभिन्न शैक्षिक कमीशनों की रिपोर्ट इस अध्ययन का प्राथमिक स्रोत रही। भारतीय शिक्षा पर पुस्तकों, अखबार तथा पत्रिकाओं का स्रोत गौण रहा।

इस अध्ययन में शैक्षिक नीतियों, शैक्षिक मतभेदों तथा शैक्षिक विकास के मूल्यांकन का विवेचन किया गया है। इस अध्ययन में शैक्षिक तथा आर्थिक नीतियों जैसे–शैक्षिक अनुदान तथा व्यय, शिक्षा के माध्यम से विवाद तथा माध्यमिक शिक्षा, समूह शिक्षा, उच्च शिक्षा और तकनीकी शिक्षा की नीतियों का विश्लेषण किया गया है।

यह ऐतिहासिक पुनरावलोकन यह तथ्य प्रकट करता है कि शैक्षिक नीति केवल विभिन्न विषयों के समूहों में आपसी समायोजन और कुछ नये विषयों को जोड़ने और कुछ के कम करने की ही प्रक्रिया है, जिसमें शैक्षिक ढांचा परिवर्तित नहीं किया गया था। विभिन्न आयोग और शासकीय निर्णय इस ढांचे को तोड़कर नया ढांचा प्रस्तुत करने

में असमर्थ रहे। यंत्र की भांति समायोजनाओं के प्रयत्न किये गये लेकिन मूल समायोजन नहीं हुए ढांचे को तोडे बिना उसी में जोड़ घटा कर परिवर्तन किये गये।

एक अन्य शोध श्री एस0के0 सैनी द्वारा 1975 में किया गया, जिसका विषय था, "भारत में सन् 1921 से 1947 तक ब्रिटिश कालीन भारत के शैक्षिक विकास में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तथ्यों के प्रभाव।"

अध्ययन से पता चलता है कि उपर्युक्त शोधकर्ता अपने शोधों के उद्देश्यों की प्राप्ति में पर्याप्त सफल रहे। इन शोधों से जो निष्कर्ष निकलते हैं उनसे ब्रिटिश कालीन भारतीय शिक्षा पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इन अध्ययनों के परिणामों को ध्यान में रखते हुए ही वर्तमान शोध का विश्लेषण किया गया है।

# तृतीय अध्याय

# तृतीय अध्याय

## उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय चेतना के उद्भव और विकास में शिक्षा की भूमिका

**छापाखाना विकासः-**

छापेखाने के आगमन के परिणामस्वरूप विचारों के आदान–प्रदान और शिक्षा की प्रक्रिया भी कीमती नहीं रही। अनेक अखबार और पत्रिकाएं छपने लगे। इन प्रकाशनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों की समस्याओं से लोग अवगत होने लगे। आप स्वयं अपने अनुभव ये यह अनुमान लगा सकते है कि प्रेस समाज के शिक्षित वर्गो में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने में किस प्रकार की महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

**नवीन शिक्षा प्रणालीः-**

अंग्रेजों ने भारत में जिस नवीन प्रणाली को लागू किया वह मुख्यतः पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली पर आधारित थी। अंग्रेजों की यह धारणा थी कि इस प्रकार की शिक्षा से भारतीयों में वह एक निष्ठावान वर्ग खड़ा कर देगें जो कि अंग्रेजों के लिए पूर्ण स्वामीभक्ति के साथ क्लर्की आदि का कार्य कर सकें। जैसे मैकाले का उद्देश्य यह था कि "व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग बनाया जाए जो कि खून और रंग से तो भारतीय हो परन्तु आदर्श, विचार और अक्ल से अंग्रेज हो।"

परन्तु इस नवीन शिक्षा प्रणाली का एक दूसरा ही प्रभाव हुआ, इसके द्वारा भारत का शिक्षित वर्ग समानता, स्वतंत्रता और राष्ट्रवाद के विचारों से एक ऐसे समय में परिचित हुआ जबकि औपनिवेशिक शासन को लेकर सर्वत्र असंतोष फैला हुआ था।

हालांकि यह शिक्षा प्रणाली भारतीयों के एक छोटे–से वर्ग तक ही सीमिति थी (उदाहरण के लिए 1921 तक लगभग 92 प्रतिशत भारतीय अशिक्षित थे) तथापि इस शिक्षा के माध्यम से शिक्षित भारतीयों का परिचय यूरोप में चल रहे राष्ट्रवादी आंदोलनों से हुआ (जैसे कि जर्मनी और इटली का एकीकरण और तुर्की के साम्राज्य के विरूद्ध विभिन्न जातियों के राष्ट्रीय आंदोलन)। इसके अतिरिक्त भारतीयों का परिचय कई उदारवादी लेखकों और विचारकों (जैसे जांन, मिल्टन, शेली, वेंथमम, जॉन स्टुअर्ट मिल, रूसो, वालटेयर, मेजिनी और गैरी बाल्डी आदि) के विचारों और लेखन से हुआ। जो भारतीय इंग्लैण्ड से शिक्षा प्राप्त करके भारत लौटे तो उन्होंने यह पाया कि जो अधिकार यूरोपीय देशों के नागरिकों को स्वतः ही प्राप्त थे भारतीयों को उनसे वंचित रखा गया है।

**बौद्धिक जागरणः-**

भारत में 19वीं शताब्दी में सामाजिक सुधार और बौद्धिक जागरण का काल प्रारम्भ हुआ। बौद्धिक जागरण से हमारा अभिप्राय उस समय से है जिसके द्वारा तत्कालीन समाज का आलोचनात्मक और रचनात्मक मूल्यांकन इस उद्देश्य से किया गया कि उसका परिवर्तन आधुनिक आधार पर किया जा सके। इस विश्लेषण का श्रेय उन बुद्धिजीवियों को जाता है जिन्होंने कि आधुनिक शिक्षा हासिल की थी। राजा राममोहन राय, केशव चन्द्र सेन, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और सर सैय्यद अहमद खाँ आदि ऐसे प्रमुख बुद्धिजीवी थे, जिन्होंने कि 19वीं शताब्दी में राष्ट्रीय चेतना के उदभव में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अंग्रेजों ने अपने शासन को न्यायोचित ठहराने के लिए अपने से पहले के युंग को (18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध) एक ऐसे काल के रूप में प्रस्तुत किया जिसके दौरान भारतीय

समाज में एक ठहराव की स्थिति थी, उन्होंने यह साबित करने का प्रयास किया कि विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में भारत की कोई उपब्धि नहीं थी और न ही भारतीय एक अच्छी सरकारदेने के योग्य थे। शिक्षित भारतीयों ने अंग्रेजों के प्रचार के विरोध में कला, साहित्य दर्शन, विज्ञान और भवन निर्माण आदि के क्षेत्र में भारतीयों द्वारा प्राप्त की गई उपलब्धियों का जिक्र किया। इन ऐतिहासिक क्षेत्रों में खोज के परिणामस्वरूप जो नवीन चेतना उभरकर सामने आई उसका उद्देश्य धर्म के नाम पर निहित बुराईयों को दूर करके भारतीय समाज में सुधार लाना था।

**मध्यमवर्गीय चेतनाः-**

19वीं शताब्दी में जन–आधारित लोकप्रिय आन्दोलनों और विद्रोहों के अतिरिक्त शिक्षित भारतीय मध्यम वर्ग में एक नवीन चेतना का विकास हो रहा था। मध्यम वर्ग में जागृति इस चेतना ने ही लोकप्रिय असंतोष को एक निश्चित दिशा प्रदान की और राष्ट्रीय चेतना के विकास में एक महत्वपूर्ण कारक बना।

शिक्षित मध्यम वर्ग ने भारतीय समाज पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली और इस जागरूक वर्ग ने उसमें सुधार करने के लिए अत्यधिक प्रयास किया। राजा राममोहन राय इसमें अग्रदूत बने। सामाजिक बुराईयों से लड़ने के लिए उन्होंने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। इसी प्रकार दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य समाज' की और स्वामी विवेकानन्द ने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। इनके अतिरिक्त इस युग में ऐसे कई और संगठन भी बने जिन्होंने कि सती प्रथा, छुआछूत और अन्य आडम्बरों को दूर करने के लिए प्रयास किये। यद्यपि ये सुधार आन्दोलन मुख्यतः समाज के मध्यम वर्गो तक सीमित थे परन्तु इस संबंध में भारतीय जनता के मध्यम राष्ट्रीय स्तर पर एक सामाजिक

चेतना जागृत करने में उन्होने अत्यधिक ध्यान दिया और जनता में एक सामान्य संस्कृति से जुडे होने की भावना को प्रबल किया।

सामाजिक चेतना के साथ–साथ राजनीतिक चेतना का भी विकास हो रहा था जैसे कि पहले जिक्र किया जा चुका है, भारतीय शिक्षित मध्य वर्ग भी जिसमें कि व्यापारी, वकील, अध्यापक, पत्रकार, डॉ।क्टर आदि थे अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत कष्टों का सामना कर रहा था। किसानों और कामगारों की तुलना में यह वर्ग साम्राज्यवादी के उद्देश्यों और औपनिवेशिक शासन के स्वरूप को अधिक स्पष्टता से समझकर उनका विश्लेषण कर सकता था। प्रारम्भ में इस वर्ग की यह धारणा थी कि संचार साधनों का विकास और रेल लाइन आदि भारतीयों के लिए लाभदायक साबित होगें। इस धारणा के कारण ही उन्होंने अंग्रेजी नीतियों का समर्थन किया था। लेकिन धीरे–धीरे उन्हें यह स्पष्ट होने लगा कि अंग्रेजों ने जो प्रशासनिक तरीके अपनाये थे वे वास्तव में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए अपनाये थे और उनकी आर्थिक नीतियां भी केवल अंग्रेजी व्यापारियों और पूंजी पतियों के हित के लिए ही थी, जैसे ही भारतीय मध्यम वर्ग को अंग्रेजी शासन के इस तथ्य की अनुभूति हुई उसने औपनिवेशिक शासन का विरोध प्रारम्भ कर दिया।

इस तथ्य को व्यापक रूप से मान्यता दी गई है कि उन्नीसवीं सदी में उभरने वाली नई, आधुनिक भारतीय संस्कृति एवं चेतना के निर्माण में पाश्चात्य शिक्षा और बौद्धिक आदान–प्रदान का प्रभाव एक सुदीर्घ समीक्षाकारी शक्ति था। इन नई पुनर्जागरण–कालीन चेतना के घटक तत्व सेक्यूलर और धार्मिक दोनों ही थे, तथा परम्परा और आधुनिकता का समन्वय उनका लक्ष्य था। इसके फलस्वरूप एक नया दृष्टिकोण, एक नया मूल्य–समुच्चय सामने आया जिसका समावेश हम धार्मिक अनुभवों

और सुधारों प्रयासों के साथ–साथ सेक्यूलर साहित्यिक अभिव्यक्तियों में भी पाते है। इसीलिए एकेश्वरवादी धर्म में, कर्मकाण्ड की अपेक्षा ईश्वर में, धार्मिक आचारों की अपेक्षा स्नेह और श्रद्धा में अधिक अटूट आस्था के दर्शन हम करते है। इस नई मनोवृत्ति का प्रतिबिंबन हम साहित्य में भी पाते हैं, जो सूक्ष्मतर भावनात्मक अनुभवों, मानवीय चेतना की जाए–गाथाओं और स्त्री–पुरूष संबंधों के अधिक सहानुभूतिशील बोध की ओर प्रवृत्त हुआ। न्याय एवं विवेक ही अवधारणाओं को व्यापक मान्यता मिली क्योंकि समकालीन बौद्धिक और सिद्धान्तकारों ने विश्व के एक अधिक न्यायसंगत, विवेकपूर्ण और समीक्षात्मक पुनर्व्यवस्थापन का पक्ष लिया। वह अनुभव–पुंज, जिसे पुनर्जागरण की सामूहिक संज्ञा दी जाती है, उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में बंगाल में शुरू हुआ और बाद में अन्य स्थानों पर। जागरूकता के विकास–क्रम में हमें क्षेत्रीय विभिननता पाते हैं लेकिन विविधता में अन्तर्व्याप्त एक सार्व भावनात्मक अन्तर्वस्तु है, जसका बोध क्षेत्रीय साहित्य की अभिवृद्धि से होता है।

प्राश्चात्य प्रभाव और भारतीय पुनर्जागरण का अंतः संबंध अत्यधिक विवाद का विषय बना है। एक प्रकार की तर्कना के अनुसार पश्चिम के सभ्यता–अभियान ने निष्क्रियता और पतनशीलता के गर्त में पड़े भारतीय समाज को आधुनिकता की दिशा में प्रवृत्त किया। एक ईसाई मिशनरी, जे0एन0 फारकुहर (J.N. Farquhar) के अनुसार, ''उत्प्रेरक शक्तियों का संबंध मुख्यतया पश्चिम से है, अंग्रेजी सरकार, अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य, ईसाई धर्म, प्राच्यविधा संबंधी अनुसंधान, यूरोपीय विज्ञान और दर्शन तथा पाश्चात्य सभ्यता के भौतिक तत्व'' एक दूसरी विचार सारणी के अनुसार पाश्चात्य विचार और प्रशासनिक व्यवहार कठोर एवं जटिल भारतीय वास्तविकताओं के सापेक्ष कुछ अधि

ाक प्रभावी सिद्ध नहीं हो सके। परिवर्तन की प्रक्रिया एक प्रकार आंशिक और अपूर्ण ही रही। एक तीसरा मत यह है कि पाश्चात्य विचार और व्यवहार भारतीय समाज को उपनिवेश बनाने के साधन मात्र थे, जिनसे एक–एक मिथ्यापूर्ण और सतही आधुनिकता भर को जन्म दिया जा सकता था।

यह प्रक्रिया उससे कहीं अधिक जटिल थी जैसा कि उपरोक्त किसी भी व्याख्या से आभास मिलता है। इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि भारत में समीक्षाशील जागरूक चेतना का उदय सेक्यूलर–सांस्कृतिक परिघटना मात्र नहीं बल्कि एकाधिक दृष्टियों से धार्मिक पुनर्रचना–अभियान भी था। सामाजिक–धार्मिक स्वरूप और साहित्यिक– कलात्मक आन्दोलन एक जीवंत समग्रता बनते थे। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि पुनर्जागरण कालीन संस्कृति गहन रूपों में स्वदेशी थी, भारत में आधुनिकता पश्चिम के प्रतिरूपों की लुंज–पुंज और विद्रूप अनुकृति मात्र नहीं थी। टैगोर की दृष्टि के अनुसार यह एक ऐसा समन्वय थी जिसके अधीन शाश्वत, परिवर्तनशील भारतीय सभ्यता ने नये तत्वों को निपुणता से रचा–बसा लिया। आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में भारत ने अपने अतीत पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली और उस अतीत एवं बाह्य विश्व की श्रेष्ठ परम्पराओं से प्राप्त समुचित तत्वों के समन्वय से अपनी पुनर्रचना की। इस प्रक्रिया का कोई पूर्ववर्ती स्वरूप न हो, ऐसा नहीं है। मध्यकालीन भक्ति–आन्दोलन जैसे अन्तरावलोकनमूलक अतीत में स्थान ले चुके थे। लेकिन पुनर्जागरण आन्दोलन ने ऐसे तत्वों का अन्ततः संयोजन किया जो नये और प्रत्यक्ष रूपों में पाश्चात्य थे।

भारतीय जनमानस पर पाश्चात्य प्रभाव ऐसी संचालक शक्ति था, जिसने आत्मान्वेषण की आलोचनात्मक वृत्ति उभारते हुए भारतीय समाज की प्रभुत्वशाली

प्रवृत्तियों को सतह पर ला दिया। इसलिए कम्पनी के राजनीतिक शासन की स्थापना के साथ बने नये राजनीतिक एवं सामाजिक परिवेश के संदर्भ में उपरोक्त नई चेतना का क्रमिक विकास समझने का प्रयास आवश्यक है। पाश्चात्य प्रभाव, रानाडे के शब्दों में, विदेशी उर्वरक, शिक्षा–व्यवस्था, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक संगठनों, अदालतों, मिशनरी संसथाओं और प्रेम के माध्यम से संचारित हुआ था। इन संस्थाओं के कार्यो का सीधा प्रतिफल था पाश्चात्य विचारों का प्रचार–प्रसार और एक भिन्न परिवेश में भारतीय मध्यम वर्ग जैसी एक नई सामाजिक श्रेणी का उदय। इन सांगठनिक रूपों के अलावा ब्रिटिश प्रशासन से पड़ने वाला ''आकाशीय प्रभाव'' भी था, जिसका उल्लेख सैय्यद अब्दुल लतीफ करते हैं। परिवर्तन के संवाहक संगठनों के अलावा अन्य रीतियों और पश्चिम में माध्यमों से भी पाश्चात्य विचारों ने जनमानस में प्रवेश किया। इन परोक्ष माध्यमों में सर्वाति महत्वपूर्ण था। पाश्चात्य साहित्य जो उन्नसवीं सदी के मध्य काल तक शहरी मध्य वर्गो में बहुत लोकप्रिय हो चला था।

उपरोक्त विवेचन का आशय यह नहीं कि पाश्चात्य प्रभावों के ही कारण भारतीय समाज में परिवर्तन आया। वह प्रभाव एक ऐसा तत्व भर था जिसने परिवर्तनों को तेज कर दिया जो भारत के हिन्दू और मुस्लिम जनसमुदाय को प्रभावित कर रहे थे। म0गो0 रानाडे की दृष्टि में, ''किसी विजातीय प्रतिरोषित पौधे की जड़े जिस पर उसका प्रतिरोषण किया जाना है, अपने स्वदेशी भूमि में गहरे तक न फैल चुकी हों। इस प्रकार जब जीवंत वृक्ष को पोषण और पानी मिलता है, विदेशी उर्वरक उसकी सुरभि और सन्दरता की अभिवृद्धि करता है।''

## राष्ट्रीय चेतना के विकास में अंग्रेजी शिक्षा नीति की भूमिकाः-

इससे पहले कि 1857 से 1905 तक की शैक्षिक गतिविधियों को देखा जाये, यह आवश्यक है कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर भी एक दृष्टि डाली जाय, जिसके आधार पर आधुनिक शिक्षा विकसित हुई। 1854 के आज्ञा पत्र में पूर्व परिस्थितियों को जायजा लेकर भविष्य के मार्ग दर्शन की नीतियां निर्धारित की गयी थीं। आज्ञा पत्र के इन निर्देशों का पालन उस समय तक होता रहा जब तक कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लार्ड कर्जन ने एक नये काल की शुरूआत नहीं की थी।

1857 के पहले कम्पनी के प्रशासकों का मुख्य कार्य था भारत के विभिन्न क्षेत्रों को जीतकर अपने राज्य को सुदृढ़ बनाना। अतः भारत में लगातार कई वर्षो तक युद्ध चलता रहा जिससे अनेक भागों में आराजकता और अशांति फैली रही। 1854 तक सम्पूर्ण भारत को काम्पनी ने जीत लिया था या फिर अपने प्रभाव में ले लिया था और प्रायः सभी जगह कानून और व्यवस्था लागू कर दी गयी थी। 1857 के बाद से इस काल में भारत भूमि पर कोई और लड़ाई नहीं लड़ी गयी और शांति तथा आन्तरिक सुरक्षा को बनाये रखा गया। इस काल में शैक्षिक प्रगति भी पहले की अपेक्षा तीव्र गति से होने लगी क्योंकि शांति और सामाजिक सुरक्षा थी और शैक्षिक उन्नति के लिए इन दोनों का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके अलावा यह भी पाया गया था कि इस काल में अंग्रेज विजेताओं के प्रति भारतीय जनता का रूख कृतज्ञता पूर्ण रहा। 1854 से पहले भारतीय जनता और अंग्रेजी कभी इतने निकट नहीं आये थे कि वे एक दूसरे को समझा सकें। अंग्रेजों के प्रति भारतीय अभियव्यक्ति विभिन्न स्थानों पर विभिन्न समयों पर और भिन्न–भिन्न व्यक्तियों तथा सामाजिक वर्गो में विभिन्न प्रकार की रही। यह अभिव्यक्ति

कभी शत्रुता की, कभी श्रद्धायुक्त भय तो कभी विस्मय की थी। लेकिन अधिकतर भारतीय जनता अंग्रेजों के प्रति संदेह और अविश्वास ही करती थी। 1902 के बाद जनता में राष्ट्रीय भाव फिर से उठने लगे थे और वह अंग्रेज शासकों के विरुद्ध पुनः युद्ध करने लगी थी। लेकिन प्रायः इस काल में हमें अंग्रेजों और भारतीयों के बीच बहुत समंजस्यपूर्ण सम्बन्ध देखने को मिलता है। मुगल शासन के पतन के बाद से जो अराजकता फैली उससे भारतीय जनता परेशान हो गयी थी और चाहती थी कि ऐसी मजबूत सरकार बने जो विधि और व्यवस्था कायम रख सके। चूंकि अंग्रेजी शासन इस प्रमुख और तत्कालिक आवश्यकता को पूरा किया। अतः इनके समय की असुविधाओं और कमियों को जनता के द्वारा भुला दिया गया। इसके अतिरिक्त लोगों के मन में यह भावना थी कि भारत के साथ अंग्रेजों का सम्बन्ध अनिश्चित काल के लिए चलते रहना चाहिए क्योंकि इससे भारतीय जनता की प्रगति होगी और सुख समृद्धि बढेगी। अतः अब पश्चिमी संस्कृति और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य और इतिहास की प्रशंसा भी होने लगी थी, लेकिन कहीं–कहीं स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत थी। कुछ भारतीय वर्गो ने अंग्रेजी शासन के साथ कभी मेल–मिलाप नहीं किया। कुछ लोग विदेशी शासन की कमियों को देखकर स्वशासन की मांग करने की इच्छा रखते थे लेकिन उनकी यह मांग काफी समय बाद विकसित हुई। अन्त में कहा जा सकता है कि सामान्य रूप से इस समय जनता की अभिव्यक्ति कृतज्ञता, निष्ठा और प्रशंसा की ही रही थी।

1858 में जैसे ही भारत का शासन महारानी के हाथों में गया, भारतीय मामलों में सामान्य रूप से और भारतीय शिक्षा में विशेष रूप से ब्रिटिश संसद की रूचि कम हो गयी इसलिये 1858 के बाद भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में सबसे प्रभावी अधिकार

इंग्लैण्ड के गृह विभाग के बजाय भारत सरकार के हाथों में आ गया। यह काल सामान्य अर्थ संकट का भी काल था। 1853 से पहले भी कम्पनी को अर्थसंकट के दौर से गुजरना पड़ रहा था क्योंकि उसे भारत को जीतने के लिए सेना पर भारी व्यय करना पड़ रहा था। लेकिन 1857 की घटनाओं के बाद जो कुछ युद्ध हुए उससे यद्यपि शासन पर बहुत वित्तीय भार नहीं पड़ा था लेकिन फिर भी शिक्षा के लिए कभी पर्याप्त धन नहीं प्राप्त हुआ और सरकार हमेशा ही धन की कमी की बात कहती रही। इस काल में जहाँ एक ओर विश्वविद्यालय, महाविद्यालयों, माध्यमिक और प्राथमिक स्कूलों का तेजी से विस्तार हुआ वहीं दूसरी ओर व्यवसायिक शिक्षा, मुसलमानों, हरिजनों, आदिवासियों एवं स्त्रियों जैसे पिछड़े वर्गों की शिक्षा में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

उपरोक्त परिस्थितियों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि यह समय शिक्षा की उन्नति की दृष्टि से उपयुक्त समय था।

**1857 से 1905 तक की शैक्षिक गतिविधियाँः-**

1857 के विद्रोह ने भारत के ब्रिटिश राज्य को गहरा धक्का दिया। यह आन्दोलन इतना प्रभावशाली था कि इसने ब्रिटिश सरकार को शासन के पुनर्गठन के लिए बाध्य कर दिया। अतः विद्रोह के बाद भारत में प्रशासनिक, आर्थिक और शैक्षिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

1854 के आज्ञा पत्र को यह माना गया था कि यह कम्पनी के आधीन शैक्षिक सुधारों का एक महान युग प्रारम्भ करेगा। परन्तु आगे आने वाली घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि यह आज्ञा पत्र कम्पनी का अन्तिम आज्ञा पत्र था, जिसमें शिक्षा की एक सुव्यवस्थित तथा पूर्ण पद्धति प्रस्तुत की गयी थी। 1853 तक ऐसी स्थिति आ चुकी

थी कि भारत में सम्पूर्ण शिक्षा का क्षेत्र का एक विस्तृत सर्वोक्षण आवश्यक हो गया था और इसी पुनर्निरीक्षण के आधार पर भविष्य में शिक्षा कि लिए एक नीति निर्धारित करनी थी। 1854 के आज्ञा पत्र में यही कार्य किया गया था। इस आज्ञा पत्र में सबसे पहले तो यही बताया गया था कि कम्पनी ने शिक्षा व्यवस्था को अपने हांथों में क्यों लिया, इसमें वर्णित था।

'यद्यपि हमारे समक्ष अनेक महत्वपूर्ण विषय है तथापि हमें उनमें से सबसे पहले अधिक ध्यान शिक्षा की ओर देना चाहिए। ..................इसके अतिरिक्त हमने न केवल अपेक्षाकृत ऊँची बौद्धिक योग्यता प्राप्त करने के लिए, वरन इसका लाभ उठाने वाले लोगों का नैतिक चरित्र भी ऊँचा करने के लिए, ओर इस प्रकार आपको ऐसे कर्मचारी प्रदान करने के लिए जिनकी ईमानदारी पर निर्भर करके आप उन्हें विश्वास के साथ ऐसे पद दे सकते हैं, जिन पर केवल विश्वसनीय व्यक्तियों को ही रखा जा सकता है .............।''

इस आज्ञापत्र में प्राच्य दल के उस दृष्टिकोण की निन्दा की गयी जैसी मैकाले ने की थी। इसमें भारत की निन्दा की गयी जैसे मैकाले ने की थी। इसमें भारत की भाषाओं के अध्ययन से होने वाले लाभों की भी विवेचना की गयी थी। इसमें बताया गया था कि अंग्रेजी और भारतीय भाषाएं मिलकर किस प्रकार भारत में उचित शिक्षा का प्रसार करने में सहायता कर सकती है। इसमें कहा गया था कि–''किसी भी सामान्य शिक्षा पद्धति में जहाँ भी अंग्रेजी भाषा की मांग हो उसे पढ़ाया जाना चाहिए। परन्तु इस प्रकार की शिक्षा के साथ–साथ जिले की देशी भाषा के अध्ययन की ओर भी सदैव सावधानी पूर्वक ध्यान दिया जाना चाहिए तथा उस देशी भाषा के माध्यम से दी जाने

वाली सामान्य शिक्षा भी दी जानी चाहिए।''

उपरोक्त विवादों पर चर्चा के बाद आज्ञा पत्र में वे नई योजनाएं बतायी गयी थी, जिन्हें प्रारम्भ किया जाना था। इनमें से पहली योजना लोक शिक्षा विभागों की स्थापना। दूसरी योजना विश्वविद्यालयों की स्थापना के संबंध में थी। तीसरी योजना उन विद्यालयों के जाल की थी जिन्हें इसके निदेशक सम्पूर्ण भारत में फैलाना चाहते थे। इस योजना के एक छोर पर विश्वविद्यालय और महाविद्यालय थे, जो कला और विज्ञान की विभिन्न भाषाओं की शिक्षा देते थे। उसके नीचे उच्च विद्यालय थे, जो अंग्रेजी अथवा किसी आधुनिक भारतीय भाषा के माध्यम से शिक्षा देते थे। सबसे नीचे प्राथमिक विद्यालय थे। आज्ञा पत्र में सहायता अनुदान देने की भी एक योजना रखी गयी थी। लेकिन यदि इस योजना को पूरी तरह क्रियान्वित किया जाता तो यह स्पष्ट था कि कम्पनी को इस योजना पर बहुत धन खर्च करना पड़ता और यह धन वह अतिरिक्त कर लगाए बिना वह वहन नहीं कर सकती थी। शिक्षा विभाग के निदेशक कम्पनी की इससमस्या से बचना चाहते थे। अतः उन्होंने यह स्पष्ट किया कि कम्पनी स्कूलों को सहायता और अनुदान कुछ शर्तो के आधार पर देगी। लेकिन इसके लिए उन्होंने जो नियम बनाएं, वे इतने जटिल थे कि बहुत से विद्यालयों के प्रबंधकों के लिए इनको मानना संभव नहीं था। आज्ञा पत्र में विद्यालयों के लिए योग्यता प्राप्त आध्यापकों को प्राप्त करने के संबंध भी विचार किया गया था। अतः इस आज्ञा पत्र में शिक्षा की अन्य समस्याओं पर भी कुछ सुझाव दिये गये। उदाहरण के लिए, इसमें कहा गया कि व्यावसायिक शिक्षा के महत्व को देखते हुए भारत में व्यावसायिक महाविद्यालय और उद्योग विद्यालय स्थापित करने की आवश्यकता

है। इसके अतिरिक्त उसमें स्त्रियों में शिक्षा प्रसार करने की आवश्यकता भी बतायी गयी।

1854 के बुड डिस्पैच का उद्देश्य यूरोप की कलाओं, विज्ञान, दर्शनशास्त्र तथा साहित्य का एकीकरण था। इसमें भारतीय भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहित किये जाने की, स्कूलों के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों की व्यवस्था की गयी थी। शिक्षा की बढ़ती हुई मांग को देखते हुए नये स्कूल और कालेज खोलने का प्रस्ताव व स्त्री शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने का भी विचार किया गया था। इसी निर्देश पत्र के आधार पर 1855–56 में लोक शिक्षा विभागों का गठन किया गया और 1857 में बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी। लेकिन इसके पहले कि आज्ञा पत्र के उपबन्धों पर कोइ अन्य कार्यवाही की जाती, कि 1857 की क्रान्ति हो गयी और 1858 में भारत सरकार सीधे क्राउन के आधीन आ गयी। ब्रिटिश साम्राज्य को लगभग खत्म कर देने वाली इस क्रान्ति के कारणों की खोज हुई कन्ट्रोल बोर्ड के अध्यक्ष लार्ड एलनबरों ने इस 1854 के निर्देश पत्र में वर्णित कुछ नीतियों का विश्लेषण और आलोचना की। उन्होंने साधारण जनता को शिक्षित करने, स्त्री शिक्षा को प्रारम्भ करके और सहायता अनुदान से स्कूलों को सरकारी सहायता दिये जाने आदि कार्यो को इस असंतोष का अप्रत्यक्ष कारण बताया। लेकिन भारत के नव निर्वाचित विदेश सचिव लार्ड स्टेनली एलनबरो के विचारों से सहमत न हो सके और 1859 में उन्होंने एक निर्देश पत्र जारी किया, जिसके द्वारा 1854 का वुड का घोषणा पत्र ही ब्रिटिश शासन की आगामी शिक्षा नीति आधार बना रहा।

28 अप्रैल 1858 को बोर्ड आफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष लार्ड एलनबरो ने एक

आदेश पत्र जारी किया, जो कि क्रान्ति के कुछ समय बाद लिखा गया था। ऐलेनबरो ने "वुड के घोषणा पत्र" द्वारा प्रतिपादित शिक्षा नीति को ही 1857 के विद्रोह का कारण ठहराया। अतः उसने अपने इस आज्ञा पत्र में वुड के घोषणा पत्र के विरुद्ध प्रस्ताव रखे। लेकिन आज्ञा पत्र को अस्वीकार कर दिया गया और इसकी सिफारिशों को कभी भी अमल में नहीं लाया गया।

भारत की शासन सत्ता कम्पनी के हाथों से निकलकर महारानी के पास पहुँच जाने पर भारत मंत्री के नये पद का निर्माण हुआ और सर्वप्रथम लार्ड स्टैनले को इस पद के लिए चुना गया। लार्ड स्टैनले यह जानने को इच्छुक था कि 1857 की क्रांति का भारतीय शिक्षा नीति से क्या सम्बन्ध था, इसके साथ ही, वह वुड के घोषणा पत्र की भारत में प्रतिक्रिया भी देखना चाहता था। अतः उसने सम्पूर्ण स्थिति का जायजा लेकर 1859 में एक नया आदेश पत्र जारी किया। इसमें 1854 के आज्ञा पत्र के प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी कुछ सिफारिशें को छोड़कर समस्त सिफारिशों की पुष्टि की और लार्ड ऐलेनबरो द्वारा उठाये गये तूफ़ान को शांत कर दिया।

1854 में शिक्षा निर्देश पत्र जारी होने के बाद लगभग तीन दशकों के बाद इस निर्देश पत्र के अनुसार चलने वाली शिक्षा प्रणाली की जाँच की बहुत अधिक आवश्यकता समझी गयी क्योंकि अब तक की शिक्षा की स्थिति पूरी तरह संतोषजनक नहीं थी। 1880 में लार्ड रिपन भारत के गर्वनर जनरल बन कर आये। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का पता लगाने और वर्तमान प्रणाली के गुण–दोष को समझने के लिए 1882 में पहला भारतीय शिक्षा आयोग में 26 सदस्य थे आयोग ने देश के विभिन्न स्थानों पर जा कर जांच पड़ताल की और 1883 में अपनी रिपोर्ट दी। इसके अनुसार

शिक्षा की प्रगति के लिए निम्न सिफारिशें की गयी थीं।

लेकिन 1882–83 में शिक्षा आयोग की इन सिफारिशों से शिक्षा नीति में कोई महत्वपूर्ण परितर्वन नहीं और न ही शिक्षा के स्तर में कोई सुधार होना दिखाई पड़ा। समाज की व्यावहारिक आवश्यकताओं से बहुत दूर थीं। लेकिन इतना अवश्य था कि आयोग ने संयुक्त प्रान्त में एक विश्वविद्यालय की आवश्यकता को समझा था जिसके फलस्वरूप 1887 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

इस समय भारत के वाइसराय और गर्वनर जनरल लार्ड कर्जन थे। वे एक उत्साही प्रशासक थे और सरकार के कई विभागों में सुधार करना चाहते थे। इन्होंने विशेषकर शिक्षण और विश्वविद्यालय प्रशासन की ओर अधिक ध्यान दिया वे यह धारणा बना चुके थे कि शिक्षा प्रणाली को बदलने की जरूरत है पर उन्होंने इस बात से कोई सरोकार नहीं रखा कि जो परिवर्तन वे करेगें उनकी सराहना जनता करेगी या नहीं। उन्होंने 1901 में शिमला में एक शिक्षा सम्मेलन बुलाया, जिसकी अध्यक्षता उन्होंने स्वयं की। सम्मेलन में कई प्रस्ताव रखे गये जिनका उद्देश्य शैक्षणिक नीति के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त बनाना था। सम्मेलन के बाद 27 जनवरी 1902 में भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना की गयी। इसका कार्य भारत में स्थापित किये गये विश्वविद्यालयों की दशा और उनके कार्यो के बारे में जांच करना और उनका संगठन तथा कार्य संचालन को सुधारने के बारे में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करना था। आयोग के अध्यक्ष रैले थे और इसमें दो भारतीय सदस्य भी थे–सैय्यद हुसैनव बिलग्रामी और जस्टिस गुरूदास बनर्जी। जब आयोग ने अपनी रिपोर्ट दी तो उसमें भविष्य में उच्च शिक्षा से संबंधित कालेजों को सरलता सरकारी प्रतिनिधित्व बढ़ाने, विधि शिक्षा को केन्द्रित न करने के सुझाव थे।

भारतीय समाचार पत्रों में कर्जन की इस नीति की तीव्र आलोचना की गयी। शिक्षित भारतीयों को सबसे अधिक आपत्ति उच्च शिक्षा से संबंधित प्रस्तावों से थी। कांग्रेस ने भी इन प्रस्तावों की आलोचना की। कर्जन ने इन आलोचनाओं की चिन्ता न करके 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित कर दिया गया।

## भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (1904)

भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की सिफारिशों के आधारपर कर्जन ने भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट 1904 तैयार किया था। इस संबंध में उसका कहना था कि 'इसका मूल सिद्धान्त सम्पूर्ण शिक्षा, विशेषकर उच्च शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाना है। हम यह कहना चाहते हैं कि इन दिनों जिस तरह की परीक्षाएं होती है, उनसे बेहतर और कम त्रुटियां वाली परीक्षा प्रणाली लागू की जाएं, विश्वविद्यालय प्रणाली को हमारे कालेजों ने जो रटने की प्रणाली बना दिया है और इसके लिए बाकी सभी बातों की उपेक्षा कर दी है उस वृत्ति को रोका जाय, अच्छे और श्रेष्ठ अध्यापकों द्वारा बेहतर पढ़ाई की व्यवस्था की जाय, कालेजों और अन्य संस्थाओं के और अच्छी तरह से निरीक्षण की व्यवस्था की जाय। ......................विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध दक्ष और विशेषता प्राप्त उत्साहित लोगों के हाथों में दिया जाय ......................। ऐसे रास्ते दिखाए जायें, जिनसे हमारे विश्वविद्यालय जो इस समय केवल परीक्षाएं लेने वाले बोर्ड मात्र हैं, अध्ययन के केन्द्र बनाये जा सकें। वास्तव में उद्देश्य भारत में उच्च शिक्षा को एक वास्तविकता प्रदान करना है, न कि एक पाखंड बनाना।'

इस एक्ट के अनुसार प्रस्तावित सुधारों में निम्न बातें शामिल थीं।

1. विश्वविद्यालय के कार्यो में एक छात्रों को पढ़ाना भी होगा। इसके अलावा विश्वविद्यालय को प्रोफोसरों और अध्यापकों की नियुक्ति, लाइब्रेरियां प्रयोगशालाएं और संग्रहालय बनाना तथा उनका संचालन और अध्ययन तथा अनुसंधान कार्यो को प्रोत्साहन देना होगा।

2. सीनेट के सदस्यों की संख्या 50 से कम और 100 से अधिक नहीं होगी और एक सदस्य का कार्यकाल केवल 5 वर्ष होगा।

3. सीनेट में निर्वाचित सदस्यों को शामिल करने की भी प्रणाली शुरू की गयी।

4. विश्वविद्यालय की एक कार्य पालिका होगी।

5. कालेजों को विश्वविद्यालय के साथ सम्बद्ध करने के लिए शर्ते कड़ी करके और नियमित रूप से समय–समय पर निरीक्षण की व्यवस्था करके सम्बद्ध कालेजों पर विश्वविद्यालय के नियंत्रण को और सुदृढ़ किया जाना था।

6. सरकार को सीनेट द्वारा बनाये गये नियमों का व केवल अनुदान करने का अधिकार होगा बल्कि वह ऐसे और नियम भी लागू कर सकती है जिनकी आवश्यकता समझी जाय।

7. गर्वनर जनरल तथा उसकी परिषद को विश्वविद्यालयों के क्षेत्र निर्धारण का भी अधिकार होगा।

21 मार्च 1904 को जब कर्जन का भारतीय विश्वविद्यालय कानून पास किया गया, उस समय राजनीतिक विवादों का वातावरण बना हुआ था। भारतीय नेता इस एक्ट को संदेह की नजर से देखते थे। उन्हें ये शक था कि उदार शिक्षा के द्वारा जो राजनीतिक चेतना जागी है उसे रोकने के लिए ही यह एक्ट पास करवाया गया है और

इसका उद्देश्य उच्च शिक्षा को साम्राज्यवादी सरकार के आदेशों के अनुसार चलाना है। परन्तु इस विरोध के बावजूद भी यह मानना होगा कि इस संस्थाओं के स्तर में सुधार लाना आवश्यक माना गया। डाक्टरी कृषि, इंजीनियरी, पशु चिकित्सा, विज्ञान, पुरातत्व तथा अन्य तकनीकी विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया गया।

**इस काल की मुख्य शैक्षिक घटनाएंः-**

1. शिक्षा विभाग का गठन– 1854 के शैथ्क्षक निर्देश पत्र के आधार पर भारत के प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा–विभाग बनाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किये गये। 1855–56 में अनेक स्थानों पर इन विभागों की स्थापना हो गयी। इसके कुछ समय पश्चात् राज्य क्षेत्रों में वृद्धि होने अथवा प्रशासनिक परिवर्तनों के कारण भारत में कई और नये प्रान्त बनये गये। कुछ समय बाद एक नियम यह भी बन गया कि जैसे–जैसे नये प्रान्त बनें, उसमें एक नया शिक्षा विभाग बना दिया जाय। इन शिक्षा विभागों के निम्नलिखित कार्य थे–1, प्रान्तीय सरकार को सभी शैक्षिक मामलों में परामर्श देना, 2. शिक्षा के लिए दी जाने वाली वित्तीय सहायता का आधीनता करना, 3. कुछ शिक्षा संस्थानों को सीधे सरकार की आधीनता में चलाना, 4. सरकारी सहायता प्राप्त और सरकारी शिक्षा संस्थानों का निरीक्षण करना, 5. अपने क्षेत्र की शिक्षा की प्रगति के बारे में रिपोर्ट तैयार करना। 6. ऐसे कदम उठाना जिनसे शिक्षा में सुधार एवं विस्तार हो।

यद्यपि सरकार ने इन शिक्षा विभागों की स्थापना तो कर दी थी, लेकिन इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जिसके फलस्वरूप इन विभागों में कार्य कुशलता नहीं आयी। इस समय भारत में भारतीयकरण की मांग के बावजूद भी इस विभाग के अनेक पदों पर यूरोपीय ही रखे जाते थे। इंग्लैण्ड के योग्य विद्वान भी इन विभागों में

नौकरी करना उचित नहीं समझते थे। अतः योग्य व्यक्तियों के अभाव के कारण भी इन विभागों की कार्य कुशलता में कमी आयी। इसके अतिरिक्त विभाग में कर्मचारियों की संख्या भी सदैव अपर्याप्त रहती थी, जिसके परिणामस्वरूप गैर सरकारी विद्यालयों पर विभाग का नियंत्रण पूर्ण नहीं रहता था।

**2. जनता के बीच शिक्षा प्रसार के साधनः-**

मिशनरियों द्वारा– 1858 से पहले भारतीय शिक्षा पर मिशनरी छाये हुए थे, लेकिन 1858 में महारानी की घोषणा द्वारा स्वीकार किया गया कि धार्मिक मामलों में पूर्ण तटस्थता की नीति अपनायी जायेगी। भारत पर ईसाई धर्म लादा नहीं जायेगा। अतः इस काल में शिक्षा विभागों ने मिशन विद्यालयों के प्रति सहानुभूति न रखने की नीति अपनायी। लेकिन साथ ही शिक्षा विभाग ने इस प्रकार का रवैया अपनाया कि मिशनरियों के लिए सरकारी शिक्षा पद्धति से स्वतंत्र रहकर कार्य करना असम्भव हो गया। इस कठिनाई के होने पर मिशनरियों ने आन्दोलन प्रारम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप 1882 में भारतीय शिक्षा आयोग नियुक्त हुआ। आयोग ने इनकी मांगों पर विचार किया। यद्यपि इन लोगों को एक दो मामलों में विजय मिली भी पर कुल मिलाकर उन्हें पराजित होना पड़ा।

जहाँ तक धार्मिक शिक्षा का प्रश्न है, मिशनरियों का इससे गहरा सम्बन्ध था। इनका यह विचार था कि प्रत्येक विद्यालय और महाविद्यालय को धर्म की शिक्षा अवश्य देनी चाहिए। इनका तात्पर्य ईसाई शिक्षा से था लेकिन जहां तक शिक्षा की मांग का प्रश्न था, कुछ अन्य दल भी प्रार्थना समाज और आर्य समाज के लोगों ने मांग की कि विद्यालयों में उनके अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार हिन्दू धर्म की शिक्षा दी जानी

नौकरी करना उचित नहीं समझते थे। अतः योग्य व्यक्तियों के अभाव के कारण भी इन विभागों की कार्य कुशलता में कमी आयी। इसके अतिरिक्त विभाग में कर्मचारियों की संख्या भी सदैव अपर्याप्त रहती थी, जिसके परिणामस्वरूप गैर सरकारी विद्यालयों पर विभाग का नियंत्रण पूर्ण नहीं रहता था।

## 2. जनता के बीच शिक्षा प्रसार के साधनः-

मिशनरियों द्वारा– 1858 से पहले भारतीय शिक्षा पर मिशनरी छाये हुए थे, लेकिन 1858 में महारानी की घोषणा द्वारा स्वीकार किया गया कि धार्मिक मामलों में पूर्ण तटस्थता की नीति अपनायी जायेगी। भारत पर ईसाई धर्म लादा नहीं जायेगा। अतः इस काल में शिक्षा विभागों ने मिशन विद्यालयों के प्रति सहानुभूति न रखने की नीति अपनायी। लेकिन साथ ही शिक्षा विभाग ने इस प्रकार का रवैया अपनाया कि मिशनरियों के लिए सरकारी शिक्षा पद्धति से स्वतंत्र रहकर कार्य करना असम्भव हो गया। इस कठिनाई के होने पर मिशनरियों ने आन्दोलन प्रारम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप 1882 में भारतीय शिक्षा आयोग नियुक्त हुआ। आयोग ने इनकी मांगों पर विचार किया। यद्यपि इन लोगों को एक दो मामलों में विजय मिली भी पर कुल मिलाकर उन्हें पराजित होना पड़ा।

जहाँ तक धार्मिक शिक्षा का प्रश्न है, मिशनरियों का इससे गहरा सम्बन्ध था। इनका यह विचार था कि प्रत्येक विद्यालय और महाविद्यालय को धर्म की शिक्षा अवश्य देनी चाहिए। इनका तात्पर्य ईसाई शिक्षा से था लेकिन जहां तक शिक्षा की मांग का प्रश्न था, कुछ अन्य दल भी प्रार्थना समाज और आर्य समाज के लोगों ने मांग की कि विद्यालयों में उनके अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार हिन्दू धर्म की शिक्षा दी जानी

चाहिए। मुसलमान आग्रह करने लगे कि मुसलमान बालाकों को कुरान अनिवार्य रूप से पढ़ाई जानी चाहिए। आयोग ने प्रशासनिक और वित्तीय कारणों से इन लोगों की मांग को स्वीकार नहीं किया और विद्यालयों को धर्म निरपेक्ष बनाने की आवश्यकता को दोहराया। आयोग ने धार्मिक शिक्षा के विषय में एक अंतिम और निश्चित नीति निर्धारित की। यद्यपि इसका निर्णय सुखद नहीं था और इसने जनता के किसी भी वर्ग को पूर्ण सन्तुष्ट नहीं किया। लेकिन फिर भी तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों में इस समस्या काएकमात्र हल यही था अतः इस निर्णय को स्वीकार करना पड़ा।

1902 तक मिशनरी यह नीति अपना चुके थे कि अपने शैक्षिक क्रियाकलापों को सीमित करके केवल कुछ ही शिक्षा संस्थाओं को और अधिक कार्य कुशलता से चलाया जाय। अब उन्होंने भारत की सम्पूर्ण शिक्षा पर नियंत्रण के स्वप्न को भी त्याग दिया था। इस निर्णय के बाद उन्होंने ऐसे क्षेत्रों में अपने प्रयत्न आरम्भ किए जिनकी ओर भारतीयों ने कभी ध्यान भी नहीं दिया था। जैसे–आदिवासियों, पहाड़ी जातियों और पिछड़े वर्गो का सुधार आदि।

शिक्षा विभाग द्वाराः–1857 की घटना के बाद शिक्षा विभाग के कर्मचारियों ने सरकारी शिक्षा संस्थानों की संस्था में तेजी से वृद्धि की। मिशनरियों को सरकार की यह नीति पसंद नहीं आयी। उन्होंने कहा कि सरकार के लिए राज्य विनिवर्तन सिद्धान्त ही एक मात्र सही नीति है, क्योंकि सरकार जब तक अपनी संस्थाओं को जारी रखेगा तब तक वह गैर सरकारी संस्थाओं को पूर्ण प्रोत्साहन नहीं दे सकेगी। इस सिद्धान्त में यह स्पष्ट किया गया था कि "एक समय ऐसा आयेगा जब सहायता अनुदान पद्धति को समाप्त किया जा सकेगा जिसकी व्यवस्था पूरी तरह सरकार द्वारा की गयी हो बहुत सी

वर्तमान सरकारी संस्थाओं, विशेषकर उच्च श्रेणी की संस्थाओं को या तो सुरक्षा पूर्वक बंद किया जा सकेगा जो राज्य के नियंत्रण में होगें तथा जिन्हें राज्य सहायता मिलती होगी।" विभाग द्वारा चलायी जाने वाली शिक्षा संस्थाओं में तेजी से जो वृद्धि हो रही थी उसे रोकने में इस सिद्धान्त को बहुत सफलता मिली।

1902 के बाद से यह स्थित बदल गयी। लार्ड कर्जन द्वारा मार्गदर्शन किये जाने पर राज्य विनिवर्तन सिद्धान्त को त्याग दिया गया और राज्य का यह कर्तव्य माना गया कि वह कुछ ऐसो संस्थाओं का संचालन करें जो गैर सरकारी उद्यमों के लिए आदर्श स्थापित करें। इस नीति के परिणामस्वरूप राज्य ने शिक्षा में न केवल सक्रिय भूमिका निभानी प्रारम्भ की वरन् यह भी दावा किया कि उसे गैर सरकारी उद्‌दम को दृढ़ता से नियंत्रित करने का अधिकार है।

इस परिवर्तन का प्रमुख कारण यह था कि शिक्षित व्यक्तियों में बढ़ती राजनीतिक चेतना से अंग्रेज कर्मचारी चिन्तित हो गये थे। अब उन्हें ये पता चल गया था कि शिक्षित व्यक्ति अंग्रेजी शासन के आलोचक है। वे लोग इस परिणाम की आशा नहीं कर रहे थे, अतः वे दावा करने लगे कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा की सारी योजना ही गलत है। वे यह आरोप लगाने लगे कि ऐसे विद्यालय जिनका प्रबन्ध भारतीयों के हाथों में है, राजद्रोह फैला रहे है। अतः उनका सुझाव था कि सरकार इन विद्यालयों पर नियंत्रण रखे। गैर सरकार उद्यम पर अधिक नियंत्रण रखने और राज्य शैक्षिक और मुख्य रूप से राजनीतिक थी। इसी कारण भारत के राष्ट्रवादी विचार धारा रखने वाले सभी वर्गो ने इस नीति का जोरदार विरोध किया। इस प्रकार सरकार और जनता के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया। सरकार ने यह दावा किया कि जनहित में और कार्य कुशलता के आधार पर उसे

सम्पूर्ण शिक्षा पर दृढ़तापूर्वक नियंत्रण रखने का अधिकार है, तो दूसरी ओर भारतीय जनता ने राजनीतिक आधार पर नियंत्रण के इस प्रयास का तीव्र विरोध किया।

गैर सरकारी भारतीय प्रत्यनों द्वारा– 1854 और 1902 के बीच मिशनरियों और सरकार ने यह निर्णय किया था कि वे अपनी शिक्षण संस्थाओं का बहुत अधिक विस्तार नहीं करेगें। शिक्षा में लगाये गये इस प्रतिबन्ध ने गैर सरकारी भारतीय उद्यम के लिए शैक्षिक क्रिया–कलापों के द्वार खोल दिये और जनता की शैक्षिक मांांगें को पूरा करने के लिए उन्हें पूर्ण रूप से उत्तरदायी बना दिया। शिक्षित भारतीयों ने इस अवसर पर अपनी क्षमता का पूर्ण प्रदर्शन किया। 1854 तक भारतीयों द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाएं बहुत ही कम थी, लेकिन 1882 के बाद स्थिति काफी बदल गयी और शिक्षा में भारतीयों ने महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया।

जिन कारणों से इन गैर सरकारी भारतीय प्रयत्नों का विस्तार किया गया वे देशभक्ति पूर्ण थे। 1880 तक भारत में सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक सुधारों की एक लहर आ चुकी थी और भारत के राष्ट्रीय जीवन में पुर्नजागरण आ रहा था। भारत के नेता इसे एक महान राष्ट्र बनाने के आदर्श में विश्वास करते थे। अब तक उन्हें ज्ञात हो चुका था कि उनकी इच्छा का राष्ट्र तब तक नहीं बन सकता जब तक देश के नवयुवकों की शिक्षा का प्रबन्ध भारतीय हाथों में न हो। इसलिए लगभग इस काल में लगभग सभी प्रान्तों में विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित किये जाने के लिए आन्दोलन चले। इस आन्दोलन की प्रभावशाली अभिव्यक्ति अलीगढ़ की मुस्लिम आंग्ल प्राच्य महाविद्यालय और पूना की दक्षिण समिति जैसे संस्थाओं के रूप में हुई।

आरम्भ में भारतीयों के प्रयत्न धन संग्रह करने तक ही सीमित रहे और भारतीय प्रबन्ध वाले महाविद्यालयों में भी अधिकतर यूयरोपीय प्रधानाचार्य होते थे। जब तक भारतीय गैर सरकारी उद्यम इन प्रधानाचार्यो पर निर्भर रहा तब तक भारतीयों के आदर्श पनप नहीं सके। अब परिस्थितियों की यह मांग थी कि योग्य शिक्षित भारतीय कुर्बानी करें। इन योग्य व्यक्तियों को केवल मांगने भर से सरकार के अधीन लाभप्रद पद मिल सकता था। लेकिन राष्ट्रीय शिक्षा का हित इस बात में था कि ऐसे लोग उल्लास से घृणा करते हुए उद्योगी जीवन बिताएं, सरकारी सेवा से मुख मोड कर गैर सरकारी संस्थाओं के थोड़े से वेतन पर जीवन स्वेच्छापूर्वक बिताने का निश्चय करें। यह एक बहुत बड़ी मांग थी। शिक्षित भारतीयों ने इस अवसर पर अपनी क्षमता का भरपूर प्रदर्शन किया और आवश्यकतानुसार कुर्बानी दी।

इस काल में भारतीय शिक्षा के लिए जिन लोगों ने कार्य किया उन्होंने शिक्षा के सार्वजनिक मांग को प्रारम्भ करके भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव रखी। इस प्रकार भारत में आधुनिक शिक्षा को प्रारम्भ करने में इन लोगों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

### 3. सहायता अनुदानः-

1854 के आज्ञा पत्र के अनुसार सहायता अनुदान देने की एक योजना स्वीकार की गयी थी। गैर सरकारी उद्यम को सहायता अनुदान देने की नीति राज्य विनिवर्तन सिद्धान्त का एक परिणाम थी। शिक्षा विभाग ने सहायता अनुदान की नीति को शीध्र ही क्रियान्वित किया। इस नीति से गैर सरकारी उद्यम में काफी वृद्धि हुई। विशेषकर महाविद्यालयों और माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी तेजी से विकास हुआ। इस प्रकार भारत में अनुदान पद्धति का प्रारम्भ हुआ।

1857 से 1905 तक विश्वविद्यालयीय शिक्षा का विकास–अंग्रेजी शिक्षा के स्कूलों और कालेजों की स्थापना एक व्यापक शिक्षा प्रणाली के प्रारम्भ का प्रतीक थी। अब तक अंग्रेजी शिक्षा सरकारी नौकरियां प्राप्त करने की संभावनाओं जुड़ चुकी थी और नौकरियों का चुनाव योग्यता के आधार पर किया जाना था, अतः शिक्षा प्रणाली में परीक्षाओं की व्यवस्था हो गयी थी। अभी तक मिशनरी, स्कूलों और गैर सरकारी स्कूलों में अलग–अलग पाठ्यक्रम थे। जब यह यह पाठ्यक्रम समान न हो तब तक योग्यता का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता था। अतएव यह आवश्यक था कि विभिन्न स्कूलों में समानता लाई जाय। यह उद्देश्य एक विश्वविद्यालय के द्वारा ही पूरा हो सकता था। अतः इसलिए अब विश्वविद्यालय की आवश्यकता को महसूस किया जाने लगा था। विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए सबसे पहले सुझाव कलकत्ता मेडिकल कालेज के सचिव फेड्रिक जान मुआन ने दिया। लेकिन कम्पनी के डायरेक्टरों को अभी फिलहाल विश्वविद्यालय खोलने का विचार उचित नहीं लगा। वे यह मानते थे कि ये विद्यालय गड़बड़ी फैला सकते थे। ये प्रस्ताव लार्ड डलहौजी ने उच्च शिक्षा के मत में अपना पक्ष व्यक्त किया तो विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी।

1854 के वुड के निर्देश पत्र में भी विश्वविद्यालय की स्थापना पर सिफरिश की गयी थी। कुछ लोग उच्च शिक्षा के विरोधी भी थे, जिन्हें विश्वविद्यालय की स्थापना करने का विचार पसंद नहीं था। स्वयं चार्ल्स बुड को इस बात की आशंका थी कि "यदि भारतीय शिक्षा पाकर प्रबुद्ध और तीक्ष्ण हो गये, तो वे खतरनाक हो सकते हैं।" इन व्यक्तिगत विचारों के बावजूद भी बुड ने समय की आवश्यकता को देखते हुए विश्वविद्यालयों की स्थापना के पक्ष में सिफारिश की। 1855 ई0 में एक समिति बनी जिसमें इस संबंध

पर योजना तैयार की। 1856 में समिति ने अपना कार्य पूरा कर लिया। इस समिति को रिपोर्ट के आधार पर ही भारत के पहले तीन विश्वविद्यालय भारत की पहली महान क्रान्ति वाले वर्ष 1857 में अस्तित्व में आए।

विश्वविद्यालयों का लक्ष्य ''परीक्षा के साधन द्वारा, जेसे व्यक्तियों को खोज निकालना जो ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में प्रवीणता प्राप्त कर चुके हों और उन्हें अपनी–अपनी उपलब्धियों के प्रमाण के तौर पर शैक्षिक उपाधियों द्वारा पुरस्कृत करना बताया गया था। विश्वविद्यालयों के प्रबन्ध के बारे में यह व्यवस्था की गयी थी कि प्रत्येक विश्वविद्यालय की एक सीनेट होगी, जिसमें एक कुलपति, एक उपकुलपति और कुछ सदस्य होगें। जिनमें से कुछ पदेन और कुछ मनोनीति होगें। विश्वविद्यालयों के सभी मामलों का प्रबन्ध और निरीक्षण का काम सीनेट के हाथों में था। इन विश्वविद्यालयों की सबसे बडी कमी यह थी कि इसमें अध्ययन कार्य नहीं होता था। लेकिन फिर भी इन विश्वविद्यालयों ने शैक्षणिक गतिविधियों में एकरूपता और नियमितता लाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

प्रारम्भ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन 18 कालेज और बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों के अधीन केवल 3 कालेज थे। लेकिन बाद में धीरे–धीरे इनकी संख्या बढ़ने लगी। 1857 में विश्वविद्यालय गठन कानून में उन डिग्रियों के नाम थे, जो ये विश्वविद्यालय दे सकते थे लेकिन जल्दी ही यह महसूस किया गया कि नई डिग्रियों की जरूरत भी पडेगी। अतः 1860 में भारतीय विश्वविद्यालय (डिग्री) कानून पास हो गया। जिसके द्वारा विश्वविद्यालयों को यह अधिकार मिला कि वे नयी–नयी डिग्रियां और डिप्लोमा दे सकते हैं। 1884 में एक और भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम बना जिसमें

कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालयों को एल0एल0डी0 की "सम्मानार्थ उपाधि" प्रदान करने का अधिकार दिया गया था। भारत में शिक्षा की स्थिति की जांच के लिए जब 1882 में शिक्षा आयोग की नियुक्ति हुई तो विद्यमान विश्वविद्यालयों की स्थिति में सुधार लाने और नये विश्वविद्यालयों की स्थापना की आवश्यकता समझी गयी। इन आवश्यकताओं को देखते हुए ही 1882 में पंजाब विश्वविद्यालय और 1887 में इलाहाबाद की स्थापना की गयी।

1899 में जब लॉर्ड कर्जन भारत का वायसराय बनकर आया तो उसने यहां की शैक्षिक परिस्थितियों पर भी ध्यान देना आवश्यक समझा। शिक्षा में वांछित सुधार लाने के उद्देश्य से उसने शिमला में एक शैक्षिक सम्मेलन 1901 में बुलाया। कर्जन का विचार था कि उच्च शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण अधिक कर दिया जाय। कर्जन की इस नीति के पीछे राजनीतिक उद्देश्य छिपा था। वह भारत में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के प्रभाव को कम करना चाहता था। वह सोचता था कि सरकारी नियंत्रण से यह प्रभाव कम हो जायेगा। इसी विचार से उसने शिमला सम्मेलन में उच्च शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण को और अधिक बढ़ाने की बात कही। लेकिन कर्जन की इस नीति की तीव्र आलोचना हुई। उस आलोचना के परिणाम स्वरूप उसे 1902 में विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त करना पड़ा। इस आयोग ने जब अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की उसी के आधार पर 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम ने विश्वविद्यालयय शिक्षा को प्रभावित किया। सबसे महत्वपूर्ण पविर्तन तो यह था कि अब विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने वाली संस्थाएं नहीं वरन् शिक्षण संस्थाएं बन चुके थे। जिससे उच्च शिक्षा का स्तर बढ़ गया था। लेकिन इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि इस शिक्षा नीति

ने भारतीयों को असंतुष्ट करके उनकी राष्ट्रीय आन्दोलन की भावना तीव्र कर दी थी। लोवर प्रोजर उसकी शिक्षा सम्बन्धी नीति के विषय में लिखता है कि– "लार्ड कर्जन की शिक्षा नीति के विषय की गणना उसकी प्रमुख चार सफलताओं में होती है। परन्तु जिस रीति से उसने यह सुधार करना प्रारम्भ किया उससे भारतीयों को बहुत असंतोष हुआ और यह उसकी अलोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण बना।"

1857 में विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ ही महाविद्यालय विश्वविद्यालयों के प्रमुख अंग बन गये थे और ये महाविद्यालय उनकी ओर से उच्च शिक्षा का प्रबन्ध करते थे। 1857 से 1882 के बीच महाविद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। ये महाविद्यालय केवल ऐसे विद्यार्थियों को ही प्रवेश दे सकते थे, जो विश्वविद्यालयों द्वारा ली गयी प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हों। इस काल का एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय गैर सरकारी उद्यम (महाविद्यालयी संस्थाओं) का स्वयं प्रबन्ध करने लगे। 1882 तक 5 महाविद्यालयों का संचालन भारतीय ही करते थे। इनमें से दो उत्तर–पश्चिमी प्रान्त में थे और तीन मद्रास में। उत्तर–पश्चिम प्रान्त में एक लखनऊ का कैनिंग महाविद्यालय, दूसरा अलीगढ़ मुस्लिम महाविद्यालय और तिन्नेवेली के महाविद्यालय। यद्यपि इन महाविद्यालयों का प्रबन्ध गैर सरकारी उद्यम के हांथों में था लेकिन फिर भी अधिकतर इनके प्राचार्य यूरोपिन होते थे, क्योंकि भारतीयों को अभी भी अयोग्य समझा जाता था।

इन महाविद्यालयों में छात्र मुख्य रूप से दो कारणों से प्रवेश लेते थे– पहला, अधिक लाभ वाले सरकारी पद केवल उन्हीं लोगों को मिलते थे जिनके पास विश्वविद्यालय की उपाधि होती थी। दूसरा कारण यह था कि उनके पास अन्य कोई वैकल्पिक मार्ग था ही नहीं। इन कारणों का परिणाम यह हुआ कि विद्यार्थियों की संख्या

में साल दर साल तेजी से वृद्धि होती रही।

इस काल में सबसे अधिक वृद्धि कला महाविद्यालयों की संख्या में हुई। वृत्तिक महाविद्यालय कम संख्या में थे। इसके बाद चिकित्सा महाविद्यालय आते थे और सबसे कम लोकप्रिय इंजीनियरी के महाविद्यालय थे। अतः स्पष्ट है कि 1901–02 की महाविद्यलयी शिक्षा साहित्य शिक्षा थी तथा व्यवसायों में वकील और डाक्टर के व्यवसाय अत्यन्त लोकप्रिय थे। उस समय भारत आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ देश था। इसलिए आद्योगिक और तकनीकी शिक्षा का बडे पैमाने पर प्रसार होना आवश्यक था। लेकिन प्राप्त ऑकड़ों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में शिक्षा का विकास राष्ट्र की आवश्यकता के अनुकूल नहीं वरन् सरकार की आवश्यकताओं और उच्च वर्गो की रूचि के अनुसार हुआ था। इस काल की शिक्षा में एक प्रमुख दोष यही भी था कि उसमें आधुनिक भारतीय भाषाओं की उपेक्षा कर दी थी। भारतीय भाषाओं का विकास धीमी गति से होने और विश्वविद्यालयों में शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग और जनता के बीच खांई पैदा करने का एक प्रमुख कारण यह भी था। इस काल में चूंकि शिक्षा का प्रसार तेजी से हो रहा था। अतः इस समय शिक्षा के गुणत्व में भी कमी आयी। लेकिन इसी समय शिक्षाविदों का एक दल ऐसा भी था, जिसमें अधिकांश भारतीय थे, जो यह समझता था कि जो राष्ट्र प्रगति के लिए संघर्ष कर रहा है उसे संघर्ष के लिए प्रारम्भिक अवस्था में कार्य कुशलता के बजाय प्रसार पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए। गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा कि–

"इस शिक्षा की उपयोगिता का निर्धारण करने के लिए बौद्धिक क्षेत्र में हमारे स्नातकों की सफलताओं को ही एकमात्र अथवा अत्यन्त दृढ़, कसौटी न मान लिया जाय। श्रीमान् मैं समझता हूं और मेरा यह दृढ़ विश्वास है, कि भारत की वर्तमान

परिस्थितियों में समस्त पाश्चात्य शिक्षा मूल्यवान एवं उपयोगी है। यदि वह इतने उच्च स्तर की है जितनी आजकल की परिस्थितियों में संभव है तो बहुत अच्छी बात है। परन्तु यदि उच्चतम न भी हो तो केवल उपर्युक्त कारणवश इसे त्याग नहीं देना चाहिए। मैं समझता हूँ किसी राष्ट्र का जीवन चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक अथवा बौद्धिक क्षेत्रों में से किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो एक समग्र जीवन होता है जब तक लोगों को अपनी शक्तियों का सभी क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से उपयोग करने की गुंजाइश न हो, जब तक किसी विशेष क्षेत्र में किसी भी शानदार प्रगति की आशा नहीं करनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि भारत की वर्तमान स्थिति में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा काम उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन देना नहीं, वरन् भारतीय मस्तिष्क को पुरानी दुनिया के विचारों की गुलामी से मुक्ति दिलाना है। पश्चिम के जीवन, विचार और चरित्र में जो कुछ भी सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ है, उसे आत्मसात कराना है। इस प्रयोजन के लिए केवल सर्वोच्च ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण पाश्चात्य शिक्षा उपयोगी है।''

1901–02 तक जहां तो एक ओर महाविद्यालयी शिक्षा का काफी प्रसार हो चुका था और वह भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में पुनर्जागरण ला रही थी। वहीं दूसरी ओर इन नये महाविद्यालयों की कार्यकुशलता भी बहुत अच्छी नहीं थी। इन महाविद्यालयों में अनेक दोष थे जैसे आधुनिक भारतीय भाषाओं की पूर्ण उपेक्षा, उदार शिक्षा का अधिक प्रसार आदि। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब लार्ड कर्जन भारत आया तो उसने शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण सुधार किया। इस महाविद्यालयी शिक्षा को सुधारने, उसे उच्च स्तर तक पहुंचाने और गैर सरकारी महाविद्यालयों को समर्थ बनाने के लिए, इसके अतिरिक्त पुस्तकालयों, छात्रावासों और प्रयोगशालाओं के प्रबन्ध के लिए अधिक सहायता

की आवश्यकता थी। इसीलिए लार्ड कर्जन ने महाविद्यालयी शिक्षा के लिए सहायता अनुदान के रूप में एक बड़ी राशि निर्धारित की। इस अनुदान से महाविद्यालयों की कार्यकुशलता बढ़ाने, छात्रावासों और विज्ञान अध्यापन की अच्छी व्यवस्था करने में महत्वपूर्ण सहायता मिली।

1857 के कुछ वर्ष पहले से ही माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में तेजी से वृद्धि होने लगी थी। इस वृद्धि का नेतृत्व लोक शिक्षा विभागों ने किया था। 1870 तक सरकार द्वारा संचालित इन माध्यमिक विद्यालयों की संस्था में काफी वृद्धि हो रही थी। लेकिन इसी बीच सरकार ने शिक्षा के संबंध में जो पुननिरीक्षण करवाया, उससे यह पता चला कि जनता के बीच प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी सरकारी प्रयत्न कुछ धीमा पड़ गया। लेकिन सहायता अनुदान की पद्धति के प्रारम्भ होने से गैर सरकारी उद्यमों को बहुत सहायता मिली। जिसके परिणामस्वरूप बहुत से गैर सरकारी माध्यमिक विद्यालय खुले और इनकी संस्था में तेजी से और वृद्धि भी होने लगी। इस प्रकार सरकारी प्रयत्न से जो कमी आयी थी वह पूरी तरह दूर हो गयी।

1882 में जब भारतीय शिक्षा आयोग नियुक्त किया गया तो उसे दो महत्वपूर्ण कार्य करने थे। एक तो, माध्यमिक शिक्षा का और भी तेजी से प्रसार करने के साधनों पर सुझाव देना। दूसरा, इसके प्रसार के लिए सर्वोच्च साधनों की सिफारिश करना। इस काल में इस विषय पर शिक्षा के क्षेत्र में काफी मतभेद थे। एक विचार था कि सरकार को ऐसे माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में वृद्धि करना चाहिए जो उसके सीधे नियंत्रण में हों क्योंकि इन विद्यालयों में अधिक कार्यकुशलता पायी जाती है। दूसरी

ओर ऐसे लोगों का एक बड़ा वर्ग था, जिनका विचार था कि भारतीय गैर सरकारी उद्यम को माध्यमिक शिक्षा का प्रसार करने के प्रभावी साधन के रूप में प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। अन्त में यह विचार किया गया कि चूंकि सरकारी संस्था की अपेक्षा गैर सरकारी संस्था कम समय में और अपेक्षाकृत कम खर्च पर माध्यमिक शिक्षा का प्रसार कर सकती है, अतः इस कार्य के लिए गैर सरकारी संस्था को महत्ता देना होगा। आयोग का यह विचार थाा कि जहां तक हो सके माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था सहायता अनुदान के आधार पर ही की जानी चाहिए और सरकार को माध्यमिक विद्यालयों के सीधे प्रबन्ध को छोड़कर इस क्षेत्र से हट जाना चाहिए। आयोग की सिफरिशें सरकार द्वारा स्वीकार कर ली गयी जिसके परिणामस्वरूप अगले करीब बीस वर्षो तक माध्यमिक शिक्षा का बहुत तेजी से गैर सरकारी विद्यालयों द्वारा प्रसार किया गया।

लेकिन माध्यमिक शिक्षा का यह प्रसार मात्र उपयोगी ही नहीं था, वरन् इसमें कुछ दोष भी थी। जैसे–मातृभाषा की शिक्षा के माध्यम के रूप में उपेक्षा, प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव और माध्यमिक स्तर पर व्यवसायिक पाठ्यक्रमों का न होना। यद्यपि इन दोषों को दूर करने के लिए बहुत प्रयास किये गये लेकिन फिर भी यह कायम रहे। इस प्रकार 1902 तक भारत में माध्यमिक शिक्षा पद्धति अच्छाई और बुराई का मिश्रण थी। एक ओर जहां इसमें भारतीय उद्यम का प्रसार हुआ, वहीं दूसरी ओर इसकी कार्यकुशलता में कमी रही और कुछ दोष विद्यमान रहे। लार्ड कर्जन ने 1904 में माध्यमिक शिक्षा में सुधार लाने के लिए शिक्षा सम्बन्धी कुछ सरकारी नियम निर्धारित किये।

इस काल की माध्यमिक शिक्षा के दो महत्वपूर्ण पहलू थे। नियंत्रण और

सुधार जिनमें से नियंत्रण के सम्बन्ध में यहां कहा जा सकता है कि सरकार ने गैर सरकारी उद्यम को नियंत्रित करने का कई प्रकार से प्रयास किया जैसे–शिक्षा विभाग द्वारा मान्यता तथा मान्यता के शर्तो को लागू करके और गैर सहायता प्राप्त विद्यालयों से मान्यता प्राप्त विद्यालयों के स्थानान्तरण पर रोक लगा कर सुधार के संबंध में कर्जन की शिक्षा नीति का उद्देश्य शिक्षण गुणवत्ता में सुधार लाना था। इस उद्देश्य से उसने निम्न नियम बनायें– 1. सरकारी विद्यालयों की कार्य–कुशलता बढ़ाने के लिए प्रान्तीय सरकारों को भारी अनुदान मंजूर किये। 2. गैर सरकारी विद्यालयों के सहायता अनुदान में वृद्धि करने के लिए भारी धन भी मंजूर किया गया। 3. माध्यमिक विद्यालयों को प्रशिक्षण देने व आवश्यकता पर जोर दिया गया। 4. पाठ्यक्रमों को अधिक उपयोग और व्यवहारिक बनाने के प्रयास किये गये। 5. यह भी सिफारिश की गयी कि शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृ भाषा का प्रयोग किया जाय। 6. निरीक्षण विभाग में कर्मचारियों की संस्था बढ़ा दी गयी ताकि वह माध्यमिक विद्यालयों पर कठोर नियंत्रण रख सके।

1905 तक कर्जन की इस नीति को जारी रखा गया और उसके बाद भी इसी नीति को और विकसित किया गया।

1859 में एक आज्ञा पत्र जारी किया गया, जिसमें यह निर्देश दिया गया कि शैक्षिक प्रयोजनों के लिए स्थानीय कर लगाये जायें और सार्वजनिक शिक्षा के प्रसार के लिए विभाग मुख्यतः सरकारी विद्यालयों पर निर्भर करें। इस आज्ञा पत्र से भारत में कुछ विवाद उत्पन्न हुए। कुछ लोगों का कहना था कि 1854 की सिफारिशों को माना जाय और कुछ लोगों ने 1859 के आज्ञा पत्र के अनुसार ही कार्य प्ररम्भ किया। इस आज्ञा पत्र के परिणामस्वरूप इस बात पर भी विवाद उठ खड़ा हुआ कि प्राथमिक शिक्षा के प्रसार

के लिए कौन से साधन अपनाये जायें। कुछ लोगों का विचार था कि सरकार द्वारा सीधे नियंत्रित विद्यालय ही प्राथमिक शिक्षा का व्यापक रूप से प्रसार करें। कुछ ऐसे लोग भी थे जो इन दोनों विचारों के बीच का रास्ता अपनाना चाहते थे। अन्त में यह निर्णय लिया गया कि प्रत्येक प्रान्त को अपनी तरीके से विकास करने की छूट दे दी जाय। सरकार की इस नीति से प्राथमिक शिक्षा के विद्यालयों और विद्यार्थियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई।

1859 का आज्ञा पत्र में यह भी सुझाव दिया गया था सार्वजनिक शिक्षा में खर्च को पूरा करने के लिए कुछ स्थानीय कर लगाये जायें। इस सुझाव के अनुसार ही प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में होने वाले व्यय को पूरा करने के लिए लगभग सभी प्रान्तों में स्थानीय कर लगाये गये। 1859 के आज्ञा पत्र में यह भी कहा गया कि "प्रतीत होता है कि प्रशिक्षण विद्यालयों की प्रथा को निर्देशक मण्डल ने अपेक्षित सीमा तक आगे नहीं बढ़ाया।" भारत मंत्री के द्वारा किये गये इन कटाक्षों के परिणामस्वरूप अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए तेजी से प्रयत्न किये जाने लगे। भारत के कई प्रान्तों की शिक्षा पद्धतियां एक–दूसरे से काफी भिन्न थीं, जिसके कारण प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में भी काफी अन्तर था।

1882 की भारतीय शिक्षा आयोग ने भी प्राथमिक शिक्षा पर प्रमुख रूप से ध्यान दिया और इसकी अधिकतर सिफारिशें जनता के बीच प्राथमिक शिक्षा के प्रसार से ही संबंधित थी। इनमें से कुछ सिफारिशें को सरकार ने तुरन्त स्वीकार भी कर लिया। लेकिन इतना कुछ होने के बावजूद भी प्राथमिक शिक्षा की प्रगति बहुत धीमी रही। प्राथमिक शिक्षा के विस्तार में असफल होने का महत्वपूर्ण कारण यह था कि सरकार ने

इस क्षेत्र के प्रशासनिक और वित्तीय मामलों में गलत निर्णय लिये। जैसे– अनिवार्य शिक्षा को प्रारम्भ नहीं दिया गया, प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय संस्थाओं के नियंत्रण में दे दिया और देशी विद्यालयों की उपेक्षा की गयी।

लार्ड कर्जन ने अपने शासन काल में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में उच्च शिक्षा की नीति से हटकर भिन्न नीति अपनायी। उन्होंने सुधार के साथ–साथ प्रसार पर भी जोर दिया। प्रसार के विषय में उनका विचार था कि इस काल में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की अधिक आवश्यकता है, क्योंकि इस क्षेत्र में प्रसार सदा धीमा रहा है और 1882 के बाद से तो प्रसार की गति और भी धीमी हो गयी है। प्राथमिक शिक्षा की धीमी गति का मुख्य कारण यह है कि सरकारी धन से मिलने वाले अनुदान अपर्याप्त हैं। अतः उन्होंने प्राथमिक शिक्षा के लिए भारी अनुदान मंजूर किये। प्राथमिक शिक्षा में सुधार लाने के लिये उन्होंने प्राथमिक शिक्षकों का प्रशिक्षण प्रारम्भ करवाया, पाठ्यक्रमों में संशोधन किए और सहायता अनुदान पद्धति का प्रारम्भ किया।

### आधुनिक शिक्षा का प्रभावः-

अंग्रेजों की आधुनिक शिक्षा पद्धति ने भारतीयों के राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक जीवन को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने भारत में जिस शिक्षा पद्धति का सृजन किया था उसका लक्ष्य था पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य का प्रसार करना। इसी शिक्षा पद्धति के माध्यम से भारतीय विचार धारा का पश्चिम से प्रथम परिचय भी हुआ और यही शिक्षा पद्धति भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में पुनर्जागरण लाने के लिए उत्तरदायी भी है। इस शिक्षा का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि इसने भारत में एक नये साहित्य और प्रेम को जन्म दिया। इस कारण से आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया गया

और प्रकाशित करने के प्रथम प्रयास राजकीय संरक्षण में किये गये। सबसे पहले प्रकाशित पुस्तकें इतिहास, बीजगणित, ज्यामिती आदि विषयों पर थीं, क्योंकि इन विषयों को आधुनिक शिक्षा प्रणाली में पढ़ाया जा रहा था। इसी समय कुछ शिक्षित व्यक्तियों ने यह महसूस किया कि जिस प्रकार अंग्रेजी भाषा में पुस्तकें पायी जाती हैं, उसी प्रकार भारतीय भाषाओं में भी होनी चाहिए। अतः उन्होंने भारतीय भाषाओं पुस्तकों की रचना के लिए समितियां बनयी और व्यक्तिगत रूप से पुस्तकें लिखी और प्रकाशित भी की। उन्होंने पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार करने और समाज सुधार करने के उद्देश्य से समाचार पत्र भी निकाले। आधुनिक भारतीय भाषाओं में नया साहित्य तैयार करने और भारतीय प्रेस का निर्माण करने का कार्य शिक्षित, उत्साही और राष्ट्रीय मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों ने सहर्ष ही अपने हाथों में ले लिया और अपना यह कार्य उन्होंने बहुत ही प्रशंसनीय ढंग से किया। 1982 तक भारत की आधुनिक भाषाओं में काफी नया साहित्य तैयार हो चुका था और भारतीय प्रेस में भी बहुत अधिक कार्य कुशलता आ गयी थी।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी इस शिक्षा के फलस्वरूप महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस शिक्षा के ही प्रभाव से एक आन्दोलन भी शुरू हुआ जिसका लक्ष्य भारतीय समाज को सुधारना था। यह आन्दोलन हिन्दुओं में विशेष रूप से दृष्टिगोचार होता है, क्योंकि हिन्दू ही इस नई शिक्षा के प्रभाव में ज्यादा आये थे और सबसे अधिक सुधार की आवश्यकता भी हिन्दू समाज में ही थी। हिन्दू समाज में हमें जाति प्रथा को समाप्त करने, ऊँची, जातियों में विधवा विवाह, और विवाद विच्छेद को स्वीकार करने, विवाह आयु को बढ़ाने, जाति पर आधारित आहार सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटाने, अस्पृश्यता को दूर करने और हरिजनों की दशा सुधारने जैसे आन्दोलन देखने को मिलते है। इसके

अतिरिक्त धार्मिक सुधारों के लिए भी शक्तिशाली आन्दोलन शुरू हुए। सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन के सन्दर्भ में ही राजा राममोहनराय ने ब्रह्म समाज दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और इन संस्थाओं के द्वारा शक्तिशाली और सुधारवादी आन्दोलनों का नेतृत्व किया। इन आन्दोलनों के नेतृत्वकर्ता शिक्षित और विद्वान व्यक्ति थे। यह धर्म सुधार आन्दोलन सिर्फ हिन्दुओं में ही नहीं वरन् मुस्लिम, सिक्ख ओर ईसाइयों में भी देखने को मिलते है। मुस्लिम धर्म में अहमदिया आन्दोलन का नेतृत्व मिर्जा गुलाम अहमद और अलीगढ़ आन्दोलन का नेतृत्व सर सैय्यद अहमद खां ने किया था।

शिक्षित व्यक्तियों का ध्यान इस ओर क्यों गया? इसके दो कारण थे। पहला था सामाजिक कार्य की समाज में आवश्यकता थी। दूसरा यह था कि इसका सरकार की ओर से कोई विरोध नहीं हुआ था। इन लोगों ने राजनीतिक आन्दोलन के संगठन के बजाय समाज सुधार करना आवश्यक समझा। इसे उन्होनें देश की प्राथमिक आवश्यकता समझा और इसी माध्यम से देश की सेवा करने का प्रयत्न किया।

देश के राजनीतिक जीवन पर भी इस शिक्षा का बहुत प्रभाव पड़ा और शीघ्र ही एक दल ऐसा तैयार हुआ, जो सोचता था कि केवल सामाजिक और धार्मिक कार्य से देश की समस्याएं नहीं हल हो सकती हैं और भारत का पुनरूद्धार तभी संभव है जब सरकार पर राजनैतिक नियंत्रण हो। व्यक्तियों का यह दल सरकारी नीतियों की आलोचना करता था और उनके विरूद्ध था। यद्यपि ये स्वीकार करते थे कि अंग्रेजों ने भारत के लिए कुछ अच्छे कार्य किये हैं लेकिन साथ ही यह लोग भारतीयों के शोषण की भी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इन लोगों ने अहंकार, रूखेपन से युक्त, भावशून्य शिष्टता,

जिसका अंग्रेज भारतीयों के साथ व्यवहार करते समय प्रदर्शन करते थे, सभी ऊँचे पदों पर अंग्रेजों का एकाधिकार, देश की सम्पत्ति को बाहर ले जाने लोगों की बढ़ती हुई निर्धनता, राष्ट्र के औद्योगिक साधनों का विकास न किये जाने, प्राथमिक और उच्च शिक्षा का भारत में धीमी गति से विकास होने आदि जैसी ही अनेक बुराइयों के विरूद्ध आवाज उठायी। जिन शिक्षित व्यक्तियों ने इंग्लैंड का इतिहास पढ़ा वे लोकतंत्र और स्वशासन के आदेशों से प्रेरणा लिए बिना नहीं रह सके। अतः इस नई शिक्षा पद्धति ने ही शिक्षित भारतीयों को पाश्चात्य राजनीतिक जीवन के बारे में ज्ञान करा करके अपने देश के राजनीतिक जीवन के प्रति अंतरदृष्टि दी। स्वतंत्रता के प्रति उनमें प्रेम पैदा किया और संघर्ष करने का रास्ता दिखाया। उन्होंने अब विदेशी शासन के कुपरिणामों का अध्ययन करने की योग्यता भी प्राप्त कर ली थी, वे अब एक आधुनिक शक्तिशाली समृद्ध और एक सूत्रबद्ध भारत का स्वप्न देख रहे थे। यद्यपि इस शिक्षा प्रणाली ने राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म नहीं दिया लेकिन फिर भी इसने शिक्षित भारतीयों को राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने और उसे जनतांत्रिक और आधुनिक दिशा प्रदान करने में समर्थ बनाया। लार्ड रोनाल्डों ने लिखा है कि–"पश्चिमी शिक्षा की नई शराब से भारतीय जाग उठे।" सर हेनरी कार्टन लिखते हैं कि –"यह केवल शिक्षा का ही परिणाम है कि विविधताओं से भरा भारत एक सूत्र मे बंध सका। विभिन्न भाषाओं के चलते एकता का दूसरा सूत्र संभव नहीं था।

भारतीयों ने अंग्रेजी शिक्षा के अध्ययन से पश्चिमी देशों के लेखकों और विचारकों के ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा उनके सम्पर्क में आये। इन्होंने मिल, बर्क, मिल्टन, हरबर्ट स्पेन्सर, मेजिनी आदि विचारकों की रचनाओं का ज्ञान प्राप्त किया। उनके

स्वतंत्रता भरे गीतों तथा देश प्रेम से भरे लेखों का अध्ययन किया। रूसो, वाल्टेयर तथा मान्टेस्क्यू जैसे विचारकों की पुस्तकें पढ़ी। अंग्रेजी साहित्य राष्ट्रीयता, राजनीतिक, स्वाध ीनता और लोकतंत्रवाद के विचारों से ओत–प्रोत था, अतः भारतीयों में भी राजनीतिक स्वाधीनता व राष्ट्रीयता के नये विचार उत्पन्न होने लगे और वे भी भारत में इनकी मांग करने लगे। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से भारतीयों पर जो प्रभाव पड़ा उसके विषय में श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर का कहना है कि ''अंग्रेज लेखकों की रचनाओं का, जो मानव प्रेम, न्याय एवं स्वतंत्रता की भावना से परिपूर्ण था, अध्ययन भारतीयों ने किया।.......... उन्होंने यह अनुभव किया कि इंग्लैण्ड भी स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रश्न में हमारे साथ है।'' रेम्जे मैक्डोनाल्ड ने कहा कि– हरबर्ट स्पेन्सर का व्यक्तिवाद और लार्ड मार्ले का उदारतावाद ही ऐसी दो मशीनें हैं, जिन्हें भारत ने हमसे छीन ली है। जिनका प्रयोग हमारे ही विरूद्ध कर रहा है।''

मैकाले स्वयं इस बात से परिचित था कि जिस शिक्षा का प्रचार भारत में सस्ते भारतीय क्लर्कों को बनाने के लिए उसने किया है, उसके परिणामस्वरूप भारतीय भी लोकतंत्र शासन की मांग करने लगें। डा0 जकारिया ने कहा– ''अंग्रेजों ने भारत में जो शिक्षा का कार्य प्रारम्भ किया, उससे अधिक हितकर अन्य कार्य उन्होंने कोई नहीं किया।''

इस समय यूरोपीय विद्वान भी भारतीय विद्वानों के सम्पर्क में आये। रामकृष्ण गोखले, भण्डारकर, राजेन्द्र लाल, रानाडे जैसे भारतीय विद्वानों ने भारत की प्राचीन संस्कृति तथा साहित्य को पुनः अपनी रचनाओं द्वारा प्रकाशित कियां चिरौल ने लिखा है– ''इन विद्वानों की रचनाओं ने पश्चिमी दुनिया की अपेक्षा भारत को ही उसकी

संस्कृत भाषा की सम्पदा तथा हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्व को बताया जो भारतीय सभ्यता की कुंजी है।'' इस प्रकार भारतीयों को अपने देश के साहित्य के महत्व का ज्ञान हुआ।

विश्व के अन्य राज्यों में होने वाली घटनाओं जैसे– फ्रांस की राज्य क्रांति, अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम आदि के द्वारा भी भारतीयों को मानसिक बल मिला। उनके आन्दोलन से भारतीयों में भी राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हुई और वे प्रयत्न करने लगे कि अपने देश को भी परंतत्रता की बेडियों से मुक्त करें। लार्ड रोनाल्डों के अनुसार– ''ज्ञान की नयी शराब नवयुवक भारतीयों के मस्तिष्क में पड़ी। उन्होंने मुक्ति तथा राष्ट्रीयता के श्रोत से उसका पूर्णपान किया। उनके सम्पूर्ण दृष्टिकोण में क्रान्ति की भावना ने प्रवेश किया।''

# चतुर्थ अध्याय

# चतुर्थ अध्याय

## राष्ट्रीय आन्दोलन को गति देने में शिक्षा की भूमिका:-

### राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का प्रयास-कांग्रेस:-

भारत में स्थापित होने वाली संस्थाओं में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पहली नहीं थी। कई संस्थायें पहले भी स्थापित की गई थीं। भारत में संगठित रूप से राजनैतिक गतिविधियों की शुरूआत 1837 में ''लैण्डहोल्डर्स'' नाम की संस्था की स्थापना से होती है। यह संस्था बंगाल, बिहार और उड़ीसा के जमींदारों की थी और इसके मुख्य उद्देश्य उनके वर्ग के हितों की रक्षा थी। 1843 में बंगाल में ''ब्रिटिश इंडिया'' नाम की एक और संस्था का प्रादुर्भाव हुआ। इसके उद्देश्य व्यापक थे जैसे कि आम जनता के हितों की रक्षा करना तथा उन्हें बढ़ावा देना। लैण्डहोल्डर्स संस्था धन के अभिजात तंत्र का प्रतिनिधित्व करती थी जबकि दूसरी ओर बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी बुद्धि के अभिजात तंत्र का प्रतिनिधित्व करती थी। 1851 ई0 में दोनों संस्थाओं का विलय हो गया जिससे कि नई ब्रिटिश इंडिया नाम की संस्था का जन्म हुआ। इसी समय ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार पत्र का नवीकरण भी होना था और इस बात की जरूरत महसूस की गयी कि लंदन के शासकों को संस्था के विचारों से अवगत कराया जाये। इसी समय बम्बई तथा मद्रास में भी संस्थायें बनाई गयी। इन संस्थाओं का नाम क्रमशः बम्बई एसोशियेशन तथा मद्रास नेटिव एसोशिएशन रखा गया तथा इनकी स्थापना 1852 में हुई। इन सभी संस्थाओं पर धनी जमींदारों का प्रभुत्व था। इसी तरह की संस्थायें भारत के अन्य भागों में भी बनीं पर वे उतनी जानी मानी नहीं थीं। उनमें से एक देक्कन एसोशियेशन नाम की संस्था थी।

तीनों प्रेसीडेंसी संस्थाओं ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार पत्र में परिवर्तन के लिए सुझाव भेजे। ये सुझाव हमें उस समय की जनता के प्रति जागरूक वर्गो की मनोवृत्ति का अच्छा खासा आभास देते है। आवेदक यह चाहते थे कि भारतीयों को व्यवस्थापिका निकायों में नियुक्त किया जाये, नामक और नील पर कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त किया जाये और सरकर स्वदेशी उद्योगों को सहायता दे। इस बात की भी चर्चा की गयी थी कि स्थानीय सरकारों के पास अधिक शक्ति होनी चाहिए तथा भारतीयों को अपने देश के प्रशासन में बड़ी हिस्सेदारी मिले। जहां तक खेती से संबंधित मसलों के प्रश्न थे इस बात की इच्छा जाहिर की गयी कि उनके जमीन के तत्कालीन हितों को सुरक्षित रखा जाये। प्रत्येक अर्जी में कृषकों की स्थिति में सुधार की चर्चा की गयी थी। ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन के सदस्यों द्वारा भेजी गयी अर्जी में यह कहा गया था कि जबकि भारतीय इस उन्नत सरकार के अभियन्त्रण को स्वीकार करते हैं पर वह इस बात को भी महसूस करते हैं कि जहां तक उनको ग्रेट ब्रिटेन के सम्पर्क से फायदा हो सकता था जो कि उनका अधिकार था, उतना फायदा नहीं हुआ। उनकी बहुत सारी मांगों को बाद में चलकर कांग्रेस ने अपने जिम्मे ले लिया।

जैसी की पहले चर्चा की जा चुकी है, 1860 और 1870 के दशकों में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावनायें फैल गयी थी। इस अवधि में देश के विभिन्न भागों में कई राजनैतिक संस्थाओं की स्थापना की गयी जिनका कार्य प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में सुधार तथा लोगों के बीच राजनैतिक चेतना जगाना था। इन संस्थाओं में पूना सार्वजनिक सभा सबसे महत्वपूर्ण थी जिसकी स्थापना एम0जी0 रानाडे, जी0पी0 जोशी, एस0एच0, चिपलांकर और उनके सहयोगियों ने 1870 में की थी। इस संस्था ने 1878 में

एक पत्रिका निकाली जिसने राजनैतिक चेतना जगाने में काफी बड़ा योगदान दिया। इंग्लेण्ड में राजनैतिक प्रचार करने के लिए कुछ भारतीय छात्रों जैसे फिरोजशाह मेहता, बदरूद्दीन तैयबजी, दादा भाईनौरोजी और मनमोहन घोष ने ईस्ट इंडिया एसोसियेशन नाम की संस्था दिसम्बर 1866 में स्थापित की।

1837 में लैण्डहोल्डर्स सोसाइटी की स्थापना के बाद के 50 वर्षो की अवधि मुख्य रूप से आकांक्षाओं की थी उपलब्धियों की नहीं। लेकिन इन अवधि के दौरान एक राष्ट्रीय स्तर के संगठन के विकास का ढांचा तैयार हो गया था। एक राष्ट्रीय मंच की जरूरत आवश्यक रूप से महसूस की गयी। कलकत्ता में ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन की प्रति उदासीनता काफी बढ़ रही थी। इसकी सदस्यता शुल्क 50 रू0 प्रति वर्ष था जो कि मध्य वर्ग के लिए बहुत अधिक था। (लार्ड कर्जन के अनुमान से 1898 में ब्रिटिश भारत में प्रति व्यक्ति आय दर 30 रू0 प्रति वर्ष थी) इसलिए उसकी सदस्यता सिर्फ धनी वर्ग तक ही सीमित रह गयी थी। 1876 में कलकत्ता में इंडियन एसोसियेशन की स्थापना की गयी। इसका सदस्यता शुल्क 5 रू0 प्रति वर्ष था। यह शीध्र ही शिक्षित लोगों के बीच लोकप्रिय हो गयी और बंगाल में तथा बाद में चलकर भारत की राजनीति में एक बहुत ही बडी ताकत बनी गयी। मध्य वर्ग के एक नौजवान सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जिन्हें कि अपर्याप्त कारणों पर भारतीय सिविल सेना से निकाल लिया गया था, इसकी स्थापना के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार थे। इंडियन एसोसियेशन के उद्देश्य थे एक ताकतवार जनमत का विकास, हिन्दू–मुस्लिम जनसम्पर्क की स्थापना तथा भारतीय लोगों के बीच व्यापक जागरण पैदा करना। सभी तत्व राष्ट्रीय आन्दोलन के अवयव थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि नई एसोसियेशन संयुक्त भारत की अवधारणा पर आधारित थी जिसके

प्रेरणा स्रोत मैजिनी–इटली एकीकरण के मुख्य निर्माता थे।

कई अन्य राजनैतिक संगठनों की स्थापना भारत के अन्य भागों में की गयी जैसे कि मद्रास महाजन सभा, बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसियेशन, इलाहाबाद पीपुल्स एसोसियेशन, लाहौर की इंडियन एसोसियेशन इत्यादि। इन सभी निकायों की शाखायें छोटे शहरों में भी थी। 1885 के बाद ये सारी कांग्रेस की क्षेत्री इकाइयां हो गयी।

## कला और साहित्यः-

इस अवधि में राष्ट्रीयता और देश भक्ति के आदर्शो को गीतों, कविताओं एवं नाटकों के माध्यम से लोकप्रिय स्वरूप दिया गयां बहुत सारे गीतों को हिन्दू मेले के लिए रचा गया जिनका आयोजन 1867 के कुछ सालों बाद तक बंगाली नेताओं के एक समूह द्वारा होता था इसका उद्देश्य राष्ट्रीय आदर्शो को फैलाना और स्वदेशी कला एवं शिल्पों को बढ़ावा देना था। इस क्रम में ब्रिटिश नीतियों को लोगों की आर्थिक विपन्नता के लिए जिम्मेदार ठहराया गया। स्वदेशी वस्तुओं के इस्तेमाल करने पर जोर डाला गया। इन विचारों को नाटकों के माध्यम से भी प्रदर्शित किया गया। 1860 के आसपास "नील दर्पण" नाम का नाटक जो काफी लोकप्रिय हुआ। जिसमें कि नील की खेती करने वालों पर बागान मालिकों द्वारा हो रहे अत्याचारों को उभारा गया था। इस संदर्भ में बंकिम चन्द्र चटर्जी का नाम काफी महत्वपूर्ण है जिन्होंने कई ऐतिहासिक नाटकों की रचना की जिसमें शासकों की निरंकुशता का विशेष रूप से उल्लेख है। उनका सबसे लोकप्रिय कार्य "आनन्दमठ" (1882) है, जिसमें उनका अविस्मरणीय गीत "वंदेमातरम्" भी है जो कुछ ही अर्से पहले (1875) रचा गया था। इसी तरह के राष्ट्रीय भावनाओं से भरे साहित्य, अन्य भाषाओं में भी पाए जा सकते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जो कि आधुनिक हिन्दी के

जन्मदाता माने जाते हैं, अपने नाटकों, कविताओं और पत्रिकाओं से स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग करने का आग्रह किया। ऐसी प्रवृत्ति मराठी साहित्य में भी देखी जा सकती है जहां कि प्रकाशनों की संख्या काफी बढ़ी– 1818–1827 में मात्र तीन से बढ़कर 1885–1896 के बीच 3,284 हो गयी।

## अखबार एवं पत्रिकाएँः-

अखबारों एवं पत्रिकाओं ने भारतीय राष्ट्रीय हित में तथा औपनिवेशिक शासन की ज्यादतियों और असमानताओं के विरोध में लोकमत बनाने में एक विश्वसनीय भूमिका अदा की। इस अवधि में कुछ जाने माने अंग्रेजी भाषा के अखबार अमृत बाजार पत्रिका, हिन्दू पैट्रियाट और सोम प्रकाश थे जिनका प्रकाशन कलकत्ता में होता था। इन्दु प्रकाश और नेटिव ओपिनियन बम्बई से तथा हिन्दु का प्रकाश मद्रास से होता था। हिन्दी भाषा में प्रकाशित होने वाले कुछ महत्वपूर्ण अखबार, हिन्दुस्तान, भारत मित्र और जगत मित्र थे। उर्दू भाषा के जाने माने अखबार, जामे–जहाँनुमा और खुशदिल अखबार थे।

उस समय के ब्रिटिश पर्यवेक्षकों को राजनैतिक जागरूकता एवं एकता की भावना के चिन्ह स्पष्ट रूप से दिखने लगे थे। उदाहरण के लिए 1878 में डब्लू0बी0 जैन्स, बेरार के तत्कालीन कमिश्नर ने भारत सरकार को गोपनीयता रिपोर्ट में लिखा कि "20 वर्षो के मेरे अनुभव से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की भावना पूर्ण रूप से जागृत हो गयी है जिसका कि पहले कहीं अस्तित्व नहीं था अथवा धुधले रूप से महसूस किया गया था– अब हम लोगों को मात्र सूबों के लोगों से ही नहीं बल्कि 20 करोड़ लोगों की एकता, जो कि सहानुभूति एवं परस्पर व्यवहार पर आधारित है, तथा जिसे कि हम लोगों ने ही पैदा किया है, का सामना करना पड़ रहा है। यहां मुझे ऐसा लगता है कि यह इन दिनों का

सबसे बड़ा राजनैतिक सच है।"

## आर्थिक मीमांसाः-

कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं की राजनैतिक मांगे यद्यपि बहुत सीमित थी पर उनकी आर्थिक मांगे इस क्षेत्र में बुनियादी परिवर्तन चाहती थीं। सैद्धान्तिक रूप से भारतीय नेताओं ने साम्राज्यवाद की विरोधी आर्थिक नीतियों का समर्थन किया। उन्होंने इस बात पर जो दिया कि भारत और इंग्लैण्ड के मध्य, तत्कालीन आर्थिक संबंधों में मूलभूत परिवर्तन किया जाये। उन्होंने स्वदेशी शासकों द्वारा भारत को कच्चा माल मुहैया करने वाले देश और ब्रिटिश उत्पादकों की मण्डी बनाये जाने के प्रयासों का घोर विरोध ा किया। उन्होंने सरकार की सीमा–शुल्क, व्यापार, संचार तथा कर नीति की आलोचना की। इन्हें भारतीय उद्योग के विकास में सहायक होने के बजाए बाधक माना गया।

ब्रिटिश राज के आर्थिक बुनियाद की यह चुनौतीपूर्ण विश्लेषणात्मक आलोचना, प्रारम्भिक कांग्रेस नेताओं द्वारा की गई देश की महान सेवा थी।

## राष्ट्रीय शिक्षा की मांगः-

इस काल की महत्वपूर्ण घटना यह थी कि इस काल में राष्ट्रीय शिक्षा की मांग का प्रारम्भ हुआ। लेकिन इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि इसके पहले राष्ट्रीय शिक्षा के प्रश्न को कभी प्रस्तुत ही नहीं किया गया था। 1882–83 में भारतीय शिक्षा आयोग द्वारा की गयी जांच के दौरान शैक्षिक विचारधारा के सम्बन्ध में राष्ट्र व्यापी जागृति पैदा हुई थी और उस समय ही शिक्षित भारतीयों ने आयोग के समक्ष उपस्थित होकर अपना साक्ष्य प्रस्तुत किया था। जैसे–जैसे समय बीतता गया, सरकारी पद्धति की आलोचना अधिक प्रखर होती चली गयी। अब तक बहुत सी ऐसी संस्थाएं स्थापित हो

गयी जिनका कहना था कि उनका एक राष्ट्रीय दृष्टिकोंण है। वास्तव में ये संस्थाएं सरकारी पद्धति के कुछ दोषों को दूर करने का प्रयास मात्र थीं, बहुधा इनका स्वरूप साम्प्रदायिक होता था अतः उनमें वास्तविक राष्ट्रीयता की कमी थी।

लार्ड कर्जन के प्रशासन और नीतियों ने न केवल नई राष्ट्रीयता को जन्म दिया वरन् राष्ट्रीय शिक्षा को भी जन्म दिया। बंगाल के विभाजन के तुरन्त बाद स्वदेशी आन्दोलन की शुरूआत हुई। यद्यपि यह आन्दोलन आर्थिक था तथापि इसकी जीवंत विचारधारा का प्रभाव हर श्रेणी के लोगों पर पड़ा और शीध्र ही स्वदेशी शिक्षा की मांग की जाने लगी। चूंकि सरकारी नीतियों से बार–बार टकराव हुआ और शिक्षा के बारे में जो भारतीय दृष्टिकोण था, उसे भारतीय लोग कर्मचारियों को बिल्कुल नहीं समझा सके। अतः स्वदेशी शिक्षा की मांग को बहुत अधिक बल मिला। सभी राष्ट्रीय विचारक सरकारी शिक्षा पद्धति की यह कहकर निन्दा करते थे कि यह पद्धति राष्ट्रीय विकास के लिए न केवल अनुपयोगी है, अपितु राष्ट्रीय विकास की विरोधी भी है। राष्ट्रीय शिक्षा की मांग कुछ सिद्धान्तों पर आधारित थी जो निम्न हैः–

**भारतीय नियंत्रणः-**

राष्ट्रवादी भारतीयों को सबसे पहले इस बात पर रोष था कि भारतीय शिक्षा नीतियों को अंग्रेज नियंत्रित करते थे। राष्ट्रवादियों की मांग थी कि अंग्रेजों के नियंत्रण के स्थान पर भारतीय नियंत्रण हो।

**मातृभूमि प्रेम की शिक्षा देनाः-**

दूसरी बात यह थी कि यह महसूस किया गया कि राष्ट्रीय शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह लोगों के हृदय में मातृभूमि और उसकी शानदार परम्पराओं के प्रति

प्रेम और आदर की भावना भर दे।

### दासोचित अनुकरण नहीं:-

इस सरकारी प्रयास पर रोष प्रकट किया गया कि भारत पर अंग्रेजी आदर्शों को लादा जाय और ऐसे व्यक्तियों का एक नया वर्ग तैयार किया जाय जो रक्त और वर्ण से भारतीय होगें। परन्तु अन्य सब बातों में अंग्रेज होगें। अतः राष्ट्रीय नेताओं ने कहा कि पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य का प्रसार करने का वह पुराना आदर्श जिसे 1854 के आज्ञा पत्र में प्रतिपादित किया गया था और तभी से लगातार अपनाया जाता रहा था अब पुराना हो चुका है। उनका कहना था कि अब इसे पूरी तरह संशोधित करने की आवश्यकता है। श्रीमती ऐनी बेसेंट ने कहा था कि– "राष्ट्रीय शिक्षा को सर्वत्र राष्ट्रीय स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए और राष्ट्रीय चरित्र का विकास करना चाहिए। भारत को छोटा अथवा बड़ा इंग्लैण्ड नहीं बनाना है, वरन् शक्तिशाली भारत बनाना है।

### अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त हो:-

राष्ट्रीय शिक्षा यह भी चाहती थी कि अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त हो, विशेषकर शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग समाप्त कर दिया जाय। अंग्रेजी का सबसे दृढ़ विरोध महात्मा गांधी ने किया। उन्होंने यह मत प्रकट किया कि भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी हो और शिक्षा के किसी भी चरण में अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम न रहे। ज्यों–ज्यों समय बीतता गया, महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव बढ़ता चला गया।

### व्यावसायिक शिक्षा पर ज़ोर दिया जाय:-

एक बात यह भी थी कि इस बात की घोर निन्दा की गयी कि आधुनिक शिक्षा पद्धति ने देश का आर्थिक विकास नहीं किया है। इसके साथ ही इस पद्धति के

बढ़ते हुए खर्चीले स्वरूप पर खेद प्रकट किया गया। अतः भारतीय जनता का यह कहना था कि राष्ट्रीय शिक्षा व्यावसायिक शिक्षा को उचित स्थान प्रदान करें और उसका खर्च उतना ही हो जिसे सामान्य भारतीय वहन कर सके। अतः भारतीय जनता यह कहने लगी कि राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति देश के आर्थिक विकास पर बल दे और आर्थिक विकास करने में सहायता करे। परन्तु उन साधनों के बारे में मतभेद था जिसके द्वारा यह कार्य किया जा सकता था। यह मतभेद तुरन्त तो समाप्त नहीं हो सकता है। अतः महात्मा गांधी ने 1921 में कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित किये जो बुनियादी शिक्षा की योजना बनें।

राष्ट्रीय शिक्षा के ये सिद्धान्त उसके विभिन्न पहलुओं में सबसे सरल पहलू था। राष्ट्रीय शिक्षा के क्रियान्वयन की समस्या अपेक्षाकृत बहुत कठिन थी। प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक राष्ट्रीय शिक्षा देने की व्यवस्था करती थी। इसके लिए अध्यापकों को नियुक्त करना था और उन्हें विशेष रूप से प्रशिक्षित भी करना था। नये–नये पाठ्यक्रम तैयार करने थे। छात्रों उनके माता–पिता द्वारा राष्ट्रीय विद्यायालयों में भेजने के लिए प्रेरित करना था। इसके प्रबन्ध के लिए धन एकत्र करना था इन सभी कारणों से राष्ट्रीय शिक्षा को भारी विषमताओं का सामना करना पड़ा।

राष्ट्रीय विद्यालय खोलने के प्रयास दो विभिनन कालों में हुए। प्रथम प्रयास तो बंगाल विभाजन के तुरन्त बाद हुआ। सरकार ने आदेश जारी करके विद्यार्थियों पर यह रोक लगा दी कि वे राजनीतिक सभाओं और प्रदर्शनों में भाग न लें। इन आदेशों से अनेक विद्यार्थियों विद्यालयों और महाविद्यालयों का बहिष्कार करने के लिए बाध्य हो गये। बहुत से अन्य विद्यार्थी राजनीतिक गतिविधि में भाग लेने के कारण अधिकारियों द्वारा निष्कासित कर दिये गये। इस प्रकार जिन नवयुवकों को हानि पहुंची थी उनकी शिक्षा की व्यवस्था

करना राष्ट्रीय कर्तव्य समझा गया। इस प्रयास को भारी प्रोत्साहन तब मिला जब कलकत्ता कांग्रेस 1906 ने यह संकल्प किया कि अब समय आ गया है जबकि सम्पूर्ण देश की जनता लड़कों और लड़कियां दोनों ही की राष्ट्रीय शिक्षा के सवाल पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें और राष्ट्रीय आधार पर एवं राष्ट्रीय नियंत्रण में तथा राष्ट्रीय गंतव्य की ओर ले जाने वाली एक ऐसा साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा पद्धति की व्यवस्था करें जो देश की आवश्यकताओं के उपयुक्त हों।" परन्तु शीघ्र ही स्थिति बिगड़नी शुरू हो गयी और बंगाल को पुनः एक कर दिये जाने से उसके विभाजन से, जो राजनीतिक रोष उत्पन्न हुआ था, वह समाप्त हो गया।

दूसरा प्रयास 1920–22 में हुआ, जब महात्मा गांधी ने सरकारी विद्यालयों और महाविद्यालयों के बहिष्कार का उपदेश देना आरम्भ कर दिया था। उन्हीं के आग्रह पर 1920 में नागपुर कांग्रेस द्वारा पारित असहयोग संकल्प में, "सरकारी अथवा सरकार द्वारा सहायता प्राप्त अथवा सरकार द्वारा नियंत्रित विद्यालय एवं महाविद्यालयों से अपने बालकों को धीरे–धीरे हटा लेने और इस प्रकार के विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के स्थान पर विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की स्थापना करने की गम्भीर सलाह दी गयी थी। गांधी जी ने इस संकल्प का तीन कारणों से समर्थन किया। पहला यह था कि राजनीतिक दृष्टि से ऐसे नवयुवकों की आवश्यकता थी जो अपने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते। दूसरा यह कि वह इस बात को अनैतिक और आध्यात्मिक तौर पर हीन समझते थे कि देश के युवा पुरूष और स्त्रियाँ ऐसी सरकार की संस्थाओं में अपना अध्ययन जारी रखें जो पंजाब में और खिलाफत आन्दोलन के दौरान अनेक अनुचित कार्य करने की अपराधिनी थी। तीसरी बात यह थी कि उन्हें इस बात का भी विश्वास था कि

जनता यह क्षमता रखती है कि सरकार से कोई वित्तीय सहायता लिए बिना वह माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयों का अनुरक्षण कर सके। देश के युवकों से की गयी गांधी जी की यह अपील व्यर्थ नहीं गयी। इस अपील का राष्ट्रीय नेताओं विशेषकर अली बन्धुओं ने जोरदार समर्थन किया। डॉ0 पट्टाभिसीतारमैया ने कहा– "देश के विभिन्न भागों में राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों, राष्ट्रीय महाविद्यालयों और सभी श्रेणियों के राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित किये गये।

इन राष्ट्रीय संस्थाओं को कितनी कठिनाई में काम करना पड़ा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। एक ओर तो अनेकों कठिनाइयां थी और दूसरी ओर सरकार इस कार्य का विरोध करती थी, बहुत बार तो प्रमुख कार्यकर्ताओं और छात्रों को जेल में ठूस देती थी। परन्तु इन सब बाधाओं के बावजूद भी राष्ट्रीय संस्थाओं ने राष्ट्रीय शिक्षा के सिद्धान्त बनाए, पाठ्यक्रम् बनाएं और आधुनिक भारतीय भाषाओं के शिक्षा माध्यम के रूप में अपना कर अपना कार्य जारी रखा।

लेकिन दुर्भाग्य से इस आन्दोलन को बहुत शीध्र ही एक धक्का लगा। कुछ समय बाद हिंसक घटनाओं के होने के कारण गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया। चूंकि अब शीध्र ही स्वाधीनता मिलने की कोई संभावना नहीं थी अतः विद्यार्थियों का उत्साह कम होने लगा। लेकिन असहयोग आन्दोलन समाप्त हो जाने के बाद भी कोई उपयोगी कार्य बन्द नहीं हुआ। 1920–22 के आन्दोलन के शान्त हो जाने के बाद राष्ट्रीय शिक्षा के आन्दोलन को इस संदर्भ में धक्का लगा कि उन शिक्षा संस्थाओं की संख्या में भारी कमी हो गयी जो अपने को राष्ट्रीय कहती थी। जैसे–जैसे यह बात् स्पष्ट होती गयी कि राजनीतिक संघर्ष आगामी कुछ वर्षो तक जारी रहेगा, समानान्तरण शिक्षा पद्धति

चलाने के विचार को त्याग दिया गया। राष्ट्रीय शिक्षा कार्य अब कुछ संस्थाओं की व्यवस्था करने तक ही सीमित रह गया। कुछ प्रमुख राष्ट्रीय संस्थाएं थी–जामिया मिलिया इस्लामिया, विश्व भारती, गुरूकुल विश्वविद्यालय, दारूल उलूम देवबंध, दारूल–उलूम नदवातुल उलेमा इत्यादि।

## बुनियादी शिक्षा :-

बुनियादी शिक्षा का प्रारम्भ भी इस काल की महत्वपूर्ण शैक्षिक घटना है। जब करीब सात प्रान्तों में कांग्रेस का मंत्रिमण्डल बन गया तो उन्हें एक दुविधा का भी सामना करना पड़ा। एक ओर तो जनता जोर देकर यह मांग कर रही थी कि शीघ्र ही सार्वजनिक, निःशुल्क और अनिवार्य प्रथमिक शिक्षा प्रारम्भ की जाय और इस मांग के लिए तो कांग्रेस वचनबद्ध भी थी। परन्तु इस मांग को तब तक पूरा नहीं किया जा सकता था। जब तक कि भारी धनराशि की व्यवस्था न हो जाती। इस दुविधा से निकलने के लिए महात्मा गांधी ने यह प्रस्ताव रखा कि सार्वजनिक शिक्षा की योजनाओं को धन की कमी के कारण रोक रखने की आवश्यकता है और यदि एक उपयोगी और उत्पादक शिल्प के द्वारा शिक्षा देकर पढ़ाई की प्रक्रिया को आत्मनिर्भर बनाया जा सके तो प्रत्येक बालक को सात वर्ष तक सार्वजनिक, अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा दी जा सकती है। बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में "हरिजन" में प्रकाशित गांधी जी के लेखों ने तूफान पैदा कर दिया और बुनियादी शिक्षा के अनेक पहलू के बारे में उग्र विवाद छिड़ गया। अतः यह आवश्यक समझा गया कि विशेषज्ञ शिक्षाविदों से इस योजना की जांच करायी जाय। इसीलिए गांधी द्वारा प्रस्तावित नई शिक्षा पद्धति पर विचार करने के लिए पहले राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन में डॉ0 जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी। इस समिति

से कहा गया कि बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों के आधार पर एक विस्तृत पाठ्य विवरण तैयार करके उसे सम्मेलन के सभापति को दें।

जाकिर हुसैन समिति ने दो महीने की छोटी अवधि में ही एक विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जो इस योजना के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज बन गया। इस प्रतिवेदन में समिति ने इस योजना के सिद्धान्तों एवं उद्देश्यों की व्याख्या की। पाठ्य विवरण तैयार किया और योजना के कई महत्वपूर्ण पहलुओं जैसे अध्यापकों का प्रशिक्षण परीक्षा और प्रशासन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिये। यहां तक कि उसने कताई और बुनाई के बुनियादी शिल्प के साथ कुछ बुनियादी सह सम्बन्धों का भी उल्लेख किया। इस योजना के अनुसार बालकों को किसी उत्पादक कार्य द्वारा शिक्षित किया जाना चाहिए। यह योजना ऐसे कामगार तैयार करने के लिए बनी है। जो सभी प्रकार के लाभप्रद कार्य को, जिसमें शारीरिक काम यहां तक कि भंगी का काम भी शामिल है, सम्मान प्रद समझेगें और जो अपने पैरों पर खड़े हो सकने में समर्थ भी होगें। जब विद्यालय में किये गये कार्य का समुदाय के कार्य के साथ इसी प्रकार का निकट सम्बन्ध, स्थापित किया जायेगा तो विद्यालय के वातावरण में बने दृष्टिकोण एवं अभिवृत्तियों को बालक विद्यालय से बाहर विस्तृत संसार में भी ले जा सकेगें।

जाकिर हुसैन समिति का प्रतिवेदन दिसम्बर 1937 में प्रस्तुत किया था। उसके उपरान्त लगभग दो वर्ष तक बडी तेजी से और बहुत अनुकूल ढंग से काम चला। परन्तु युद्ध छिड़ जाने और उसके बाद कांग्रेस मंत्रिमडलों द्वारा त्यागपत्र दे दिये जाने से 1940 और 1945 के बीच इस योजना पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1946 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के पुनः सत्तारुढ़ हो जाने पर बुनियादी शिक्षा को नया प्रोत्साहन मिला। उन

सभी प्रान्तों में और कुछ भारतीय रिसायतों में भी जहां बुनियादी शिक्षा को स्थायित्व प्राप्त हो चुका था और वह यहां तक आगे बढ़ चुकी थी कि उसके मूलभूत सिद्धान्तों को शैक्षिक रूप से ठीक मान लिया गया था। यद्यपि योजना के विभिन्न पहलुओं से संबंधित विवरण जितने संतोषजनक रूप से तैयार होने चाहिए, उतने संतोषजनक ढंग से तैयार नहीं हो पाये थे।

**प्रौढ़ शिक्षाः-**

इस काल में प्रौढ़ों के बीच साक्षरता फैलाने की समस्या पर भी बहुत कार्य किया गया। यद्यपि यह साक्षरता शिक्षा पर्याप्त नहीं है, तो भी यह शिक्षा की ओर एक अपरिहार्य कदम है। भारत जैसे देश में, जहां 93 प्रतिशत लोग निरक्षर थे, प्रौढ़ निरक्षरता को समाप्त करने की बहुत आवश्यकता थी। भारतीय मंत्रियों ने इस दिशा में कुछ कदम उठाये भी थे। परन्तु आर्थिक मंदी और वित्तीय संकट के कारण इस समस्या के प्रति रूचि कम हो गयी। लेकिन इन्हीं प्रारम्भिक प्रयासों, विशेषकर 1917 तथा 1937 के बीच किये गये प्रयासों ने इस समस्या के प्रति जनरूचि पैदा की। इन्ही प्रयासों में पहली बार ये विचार विकसित हुए कि मालिकों को अपने कर्मचारियों को साक्षर बनाने के लिए मजबूर किया जाय, साक्षरता आन्दोलन का विस्तार करने के लिए विद्यार्थियों की सेवा भावना का उपयोग किया जाय और साक्षरता शिक्षा का खर्च घटाने तथा इस कार्य में सहायता देने के लिए स्थानीय संस्थाओं, सहकारी समितियों तथा अन्य अर्द्धसहकारी और गैरसरकारी संस्थाओं को इसके पक्ष में किया जाय। इन विचारों का कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इस समय पूरा लाभ उठाया, जब वे 1937 में सत्तारूढ़ हुए और उन्होंने व्यापक रूप से साक्षरता अभियानों को संगठित करने का प्रयत्न किया। प्रौढ़ निरक्षरता को समाप्त करने के लिए

बड़े पैमाने पर अभियान चलाये गये।

इस समस्या के सम्बन्ध में कांग्रेस मंत्रिमंडलों का जो विचार था उसे सबसे अच्छी तरह बिहार के शिक्षामंत्री डा0 सैय्यद अहमद के उस भाषण से उदाहरण लेकर स्पष्ट किया जा सकता है जो उन्होंने केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड 1939 द्वारा नियुक्त की गयी प्रौढ़ शिक्षा समिति के अध्यक्ष की हैसियत से दिया था–

सज्जनों, हम यहां अपने लाखों निरक्षर भाइयों को शिक्षा देने के महत्वपूर्ण प्रश्न पर चर्चा करने के लिए एकत्र हुए है। मुझे इस बात पर बल देने की आवश्यकता नहीं कि प्रौढ़ शिक्षा एक ऐसा आधार है जिस पर आधारित करके ही हमारे इस प्राचीन देश के सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन का विकास किया जाना चाहिए। जब तक जनता निरक्षरता और अज्ञात के अंधकार में डूबी रहेगी, राष्ट्र का आर्थिक एवं सामाजिक उत्कर्ष एक नेक स्वप्न ही बना रहेगा। लेनिन ने कहा था, ''निरक्षता को समाप्त करना कोई राजनीतिक समस्या नहीं, यह एक ऐसी स्थिति है जिसके बिना राजनीति की बात कर सकना असम्भव है।''

अतः यह अति आवश्यक है कि हम प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन के लक्ष्यों और उद्देश्यों को सामने रखे। इस आन्दोलन के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए–(1) निरक्षर प्रौढ़ को पढ़ने–लिखने और अंकगणित की शिक्षा देना और (2) उसे उसके कर्मशील जीवन से अत्यन्त सहसम्बन्धित ज्ञान देना और सजग शिक्षित नागरिक बनाना। इन दोनों पहलुओं का परस्पर गहरा सम्बन्ध है क्योंकि शिक्षा के व्यापक पहलुओं के बिना अकेली साक्षरता व्यक्ति को अच्छा और पूर्ण जीवन बिताने के लिए तैयार नहीं करेगी और न्यूनतम साक्षरता के बिना कोई अच्छी प्रौढ़ शिक्षा साक्ष्य नहीं है। अतः यह बहुत आवश्यक

है कि ये दोनों प्रक्रियाएं साथ–साथ चले क्योंकि ये एक दूसरे के पूरक हैं।"

1937–38 में प्रत्येक प्रान्त और अनेक रियासतों में इस समस्या को जोश के साथ हल करने का प्रयास किया गया था। परन्तु 1940 में कांग्रेस मंत्रिमंडल के त्यागपत्र देने के बाद दुर्भाग्यवश इस आन्दोलन का प्रसार रूक गया। फिर इस कार्य को 1946 में कांग्रेस मंत्रिमंडल के पुनः सत्तारूढ हो जाने के बाद ही आरम्भ किया जा सका और 1946–47 में कुछ प्रगति भी हुई।

## 1905 से 1947 तक शैक्षिक गतिविधियाँः-

बीसवीं सदी के प्रारम्भ के कुछ वर्षो में ही राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारत की आत्मा को गहराई तक हिला दिया था। कर्जन की प्रतिक्रिया वादी नीति के कारण परिस्थिति पहले से अधिक गम्भीर हो गयी थी। भारतीयों के प्रति उसके अन्यायपूर्ण व्यवहार ने देशवासियों की क्रोधाग्नि को प्रज्जवलित कर दिया था। अब देश के नेताओं ने अंग्रेजों को अमानुषिक अत्याचारों और उनकी साम्राज्यवादी नीति का भंडाफोड़ करना प्ररम्भ किया। शिक्षित वर्ग ने अंग्रेजों की उस नीति की कटु आलोचना की, जिसकी छाया में– "विदेशी भारत का शोषण कर रहे थे। हमारे प्राकृतिक साधन निरन्तर निचोडे जा रहे थे देश में दुर्भिक्षों का तांता लगा था। और भारतीय जनता तथा उसके उद्योगों को शासन की रक्षा प्राप्त न होने से निर्धनता तीव्रगति से बढ़ रही थी।" भारतीय नवयुवक क्रान्तिकारी भावनाओं से ओत प्रोत होकर देश के अतीत 'वैभव' की पुर्नस्थापना का स्वप्न देख रहे थे। कुछ राष्ट्रवादी जनता को संदेश दे रहे थे कि जब भारतवासी अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाना अपना कर्तव्य समझेगें तभी देश अपने अतीत के गौरव को पुनः प्राप्त कर सकेगा। इस सब कारणों के फलस्वरूप राष्ट्रवाद का आन्दोलन इस समय चरम बिन्दू पर

था। इसी समय कुछ ऐसी विदेशी घटनाएं भी घटित हुई जिन्होंने भारतीयों की निराशा का अंत कर दिया, जैसे एबीसीनियां में हब्शियों ने इटली को और जापान ने रूस को पराजित किया। इसके अतिरिक्त मिश्र, ईरान, टर्की और रूस में जन आन्दोलनों का वेग बढ़ रहा था। ऐसे समय में लार्ड कर्जन ने मूर्खता पूर्ण और निष्प्रयोजन कार्यवाही की बंगाल का विभाजन। इस विभाजन के विरोध में सम्पूर्ण बंगाल एक साथ उठ खड़ा हुआ और कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में उसके विरूद्ध आन्दोलन करने का निश्चय किया गया।

1905 में ही लार्ड कर्जन भारत से चले भी गये। उनके प्रशासन द्वारा उत्पन्न किये गये तूफान को शान्त करने के लिए बाद के वाइसरायों ने उसकी कुछ नीतियों को उलट दिया। परन्तु जहां तक शिक्षा का प्रश्न है, कर्जन की किसी नीति में शायद ही कोई परिवर्तन किया गया है। वास्तविकता तो यह है कि उसकी अधिकांश नीतियों को कर्जन से भी अधिक उत्साह से जारी रखा गया। यद्यपि भारतीय जनता के साथ थोड़ा सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपना लिया गया था। जनता का ध्यान राजनीति की ओर बढ़ रहा था। अतः उसे शैक्षिक सुधारों के लिए कम समय मिलता था। और अब शासन की परवाह किये बिना राष्ट्रीय शिक्षा योजनाओं का आयोजन किया जाने लगा था। लेकिन इतना सब होने के बावजूद भी सरकारी और गैर सरकारी नीतियों के बीच चलने वाले प्रमुख विवाद काफी दिनों बाद तक चलते रहे। कर्जन ने यह प्रयत्न किया था कि शिक्षा के गैर सरकारी प्रयासों को नियंत्रित कर दिया जाय और कर्जन की यह नीति 1921 तक जारी भी रही। परन्तु सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। अतः ज्यों–ज्यों समय बीतता गया त्यों–त्यों शिक्षा के सम्बन्ध में सरकार को नियंत्रण और

धिकार दिये जाने वाले प्रस्तावों का समर्थन करने में कठिनाई होती गयी।

इस समय देश में जुझारू राष्ट्रवाद (गर्मदलीय राजनीति) की प्रकृति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। जिसकी पहली अभिव्यक्ति 1905 के बंगभंग आन्दोलन में हुई। अब तक नरम दलीय राष्ट्रवादियों की राजनीति इस धारणा पर आधारित थी, कि भारतीयों की स्थिति को ब्रिटिश शासन के अधीन रहकर भी सुधारा जा सकता है। मगर धीरे-धीरे ज्ञान के प्रसार ने इस धारणा को कमजोर सिद्ध कर दिया। राष्ट्रवादियों और आन्दोलनकारियों ने जनता की दरिद्रता के लिए ब्रिटिश शासन को जिम्मेदार ठहराया। राजनीतिक रूप से जागरूक भारतीयों को इस बात का पूरी तरह से विश्वास हो गया कि ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारतीय शोषण करना है अर्थात भारत के धन से इंग्लैण्ड को समृद्ध बनाना है और आर्थिक क्षेत्र में भारत सिर्फ तभी प्रगति कर सकता है जब तक कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जगह भारतीय जनता द्वारा नियंत्रित और संचालित सरकार न ले ले।

अब तक की राजनीतिक घटनाओं ने भी राष्ट्रवादियों को निराश किया तथा उन्हें क्रान्तिकारी राजनीति के बारे में सोचने के लिए मजबूर किया। सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से भी ब्रिटिश शासन प्रगतिशील नहीं रह गया था। अब भारतीयों ने यह विश्वास होता जा रहा था कि देश के आर्थिक, राजनीतिक गुलामी का अर्थ था– भारतीय जनता के विकास को अवरूद्ध करना। भारतीयों में अब आत्म सम्मान और आत्म विश्वास की भावना आ गयी थी। स्वामी विवेकानन्द, यद्यपि वे राजनीतिक नेता नहीं थे, तब भी उन्होंने यह संदेश लोगों तक पहुंचाया–

"अगर संसार में कोई पाप है तो वह कमजोर है, सभी तरह की कमजोरियों

से दूर रहो, कमजोरी पाप है, कमजोरी मौत है ..........और सत्य की कसौटी यह है जो भी तुम्हें शारीरिक बौद्धिक और आध्यात्मिक तौर से कमजोर बनाए, उसे विष की तरह ठुकरा दो, जिसमें कोई जीवन नहीं वह सत्य नहीं हो सकता है।''

उन्नसवीं सदी के अन्त तक शिक्षित भारतीयों की संख्या भी काफी बढ़ गयी थी। वे बड़ी संख्या में प्रशासन में बहुत कम वेतन पर काम करने लगे थे। और उनमें से अनेकों को तो बेरोजगारी का भी सामना करना पड़ रहा था। अपनी आर्थिक दशा से मजबूर होकर इन लोगों ने ब्रिटिश शासन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना शुरू कर दिया और परिवर्तनवादी राष्ट्रवादी राजनीति की ओर आकर्षित हुए। अनेक विदेशी घटनाओं ने भी भारत में जुझारू राष्ट्रवाद के विकास को बढ़ावा दिया। इटली की फौज की इथोपिया के द्वारा हार तथा जापान द्वारा रूस की पराजय ने यूरोपीय कल्पित श्रेष्ठता को खत्म कर दिया। आयरलैण्ड, रूस, मिस्र, तुर्की और चीन के क्रांतिकारी आन्दोलनों तथा दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध ने भारतीयों को यह विश्वास दिला दिया कि बलिदान करने को तैयार कोई भी एकजुट राष्ट्र अत्यन्त शक्तिशाली निरंकुश शासकों को भी चुनौती दे सकता है। इसमें सबसे आवश्यक चीज है देश भक्ति और आत्म बलिदान की भावना।

1905 में जब भंग की घोषणा की गयी तो भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में गर्मदलीय गतिविधियां तेजी से प्रकट हुई। अंग्रेजों को उम्मीद थी कि बंगभंग के द्वाराने राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई लहर को शांत कर सकेगें। लेकिन इस विभाजन का बड़ी तीव्रता से विरोध हुआ और इसके विरोध में ही स्वदेशीय बहिष्कार आन्दोलन चलाया गया।

उपरोक्त परिस्थितियों में भारत में शिक्षा का विकास भी इन राष्ट्रवादी

गतिविधियों से अछूता न रहा। इस काल में शिक्षा में अनेक परिवर्तन हुए और राष्ट्रीय शिक्षा की मांग भी इसी काल की देन है।

## अंग्रेजी शिक्षा नीति एवं शिक्षा का विकासः-

### शिक्षा नीति सम्बन्धी सरकारी घोषणा 1913:-

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 को जब बहुत सफलता नहीं मिली तो यह आवश्यक समझा गया कि शिक्षा के विषय में सरकारी नीति को व्यापक बनाया जाय। यह कार्य 21 फरवरी 1913 के शिक्षा नीति सम्बन्धी सरकारी संकल्प में किया गया। जिसमें यह घोषणा की गयी कि प्रत्येक प्रान्त में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की जाएगी। विश्वविद्यालयों में अध्यापन क्रिया–कलापों को प्रोत्साहन दिया जायेगा और बड़े–बड़े कस्बों में स्थित महाविद्यालयों को अध्यापन विश्वविद्यालय बना दिया जायेगा। लेकिन इस दिशा में कोई कार्यवाही नहीं की गयी। इसका एक कारण तो यह था कि सरकार का यह विश्वास था कि कार्यवाही करने से पहले इस प्रश्न पर विशेषज्ञों से जांच करा लेना आवश्यक है, दूसरा कारण यह था कि विश्वयुद्ध छिड़ गया था।

### कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग 1917-19 :-

1917 में सरकार ने पुनः उपरोक्त विषय पर अध्ययन करने और प्रतिवेदन देने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किया गया। इसको इसके अध्यक्ष सर एस0ई0 सैडलर के नाम पर "सैडलर आयोग" कहा जाता है। इस आयोग का प्रतिवेदन एक महत्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता है। यद्यपि यह केवल कलकत्ता विश्वविद्यालयों की ही समस्याएं थीं। अतः इस आयोग के प्रतिवेदन का सम्पूर्ण भारत की विश्वविद्यालय

शिक्षा के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा।

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा तथा विश्वविद्यालय, अध्ययन दोनों की ही समस्याओं का अध्यापन किया था। क्योकि उसका विचार था कि विश्वविद्यालय अध्यापन में सुधार करने के लिए माध्यमिक शिक्षा सुधार करना भी आवश्यक है। अतः माध्यमिक विद्यालयों के पुर्नगठन के सम्बन्ध में इस आयोग ने महत्वपूर्ण परिवर्तन करने वाली सिफारिशें प्रस्तुत की। आयोग इस निष्कर्ष पर भी पहुंचा कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन चलने वाले महाविद्यालय और विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक है कि उन्हें एक अकेली संस्था संभाल नहीं सकती है। अतः इस संबंध में भी आयोग ने कुछ सिफारिशें की। आयोग ने विश्वविद्यालयों के कार्यो के बारे में भी पुनर्विचार किया। स्त्री शिक्षा, अध्यापक प्रशिक्षण, प्रौद्योगिकी, वृत्तिक एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि विषयों के उपयोग में गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया।

**गोखले का अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी विधेयकः-**

1905 के पश्चात् से सरकार ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार करने के बजाय गुणात्मक सुधार की ओर अधिक ध्यान दिया। भारतीय राष्ट्रवादियों ने इस बात को पसंद नहीं किया और वे सरकार पर अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ करने के लिए दबाव डालने लगे। श्री गोपाल कृष्ण गोखले इस मांग के बहुत बड़े समर्थक थे। 1910 और 1913 के बीच गोखले ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्त को सरकार से मनवाने के बहुत प्रयत्न किये। 19 मार्च 1910 को उन्होंने एक प्रतिवेदन भी सरकार के सामने प्रस्तुत किया। सरकार ने यह आश्वासन दिया कि इस विषय पर सावधानी पूर्वक विचार किया जाएगा। लेकिन कोई संतोषजनक हल न निकलने से गोखले ने पुनः 16 मार्च 1911

को प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

इस विधेयक पर बहुत अधिक वाद–विवाद हुआ और अन्त में यह स्पष्ट हो गया कि सरकार इस साधारण से विधेयक को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है। विधेयक को सफलता न मिलने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि उस समय केन्द्रीय विधान मंडल में सरकारी सदस्यों का स्पष्ट बहुमत था और बहुत से गैर सरकारी सदस्य भी किसी न किसी कारण से इस विधेयक के विरूद्ध थे। अतः गोखले का सम्पूर्ण प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ। उन्हें इस बात का पूर्ण आभास पहले से ही था। अतः उन्होंने वाद–विवाद के दौरान गरिमापूर्ण शब्दों में पहले ही उल्लेख कर दिया था– "श्रीमान् मैं जानता हूं कि दिन समाप्त होने से पहले ही मेरे विधेयक को रद्‌द कर दिया जायेगा। इस विषय में कुझे कोई शिकायत नहीं है .......... आज जिस विधेयक को रद्‌द किया गया है, वह बार–बार तब तक उपस्थित किया जाता रहेगा जब तक इसी के नक्शे कदम पर अंततः एक ऐसा विधान नहीं बन जायेगा जो देशभर में ज्ञान का प्रकाश फैलाएगा। ....

इस प्रकार भारत में शिक्षा के इतिहास में गोखले ने अनिवार्य शिक्षा के अपने उद्‌देश्य को पूरा करने के लिए यद्यपि बडे उत्साह और योग्यता से कार्य किया तथापि उनका उद्‌देश्य पूरा नहीं हुआ। लेकिन गोखले के इन प्रयत्नों का ही अप्रत्यक्ष परिणाम था कि सरकार प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में क्रियाशील हो गयी थी।

**पटेल अधिनियम या अनिवार्य शिक्षा सम्बन्धी एक अन्य प्रान्तीय अधिनियम (1918):-**

गोखले के उपरोक्त कार्य को प्रान्तीय स्तर पर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के एक अन्य नेता बिट्‌ठल भाई पटेल ने अपने हाथों में ले लिया। नगर पालिका क्षेत्रों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ करने के उनके विधेयक को बम्बई विधान परिषद ने

स्वीकार कर लिया और यह 1918 का बम्बई प्राथमिक शिक्षा अधिनियम बन गया। यह पटेल अधिनियम के नाम विख्यात है।

## भारत सरकार अधिनियम 1919:-

यह अधिनियम इस काल का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इसके अनुसार भारत में द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना की गयी थी। इसके द्वारा शिक्षा विभाग को भी भारतीय मंत्रियों के नियंत्रण में स्थानान्तरण कर दिया था। भारतीयों को शिक्षा का पूर्ण नियंत्रण सौंप दिये जाने का काफी विरोध हुआ। साथ ही भारतीय मंत्रियों को भी इस व्यवस्था को संभालने में काफी कठिनाई हुई एक तो उन्हें पर्याप्त धन नहीं मिलता था, क्योंकि वित्त विभाग पर अंग्रेजों का अधिकार था और दूसरे उन्हें कोई सहयोग नहीं प्राप्त था। लेकिन फिर भी सरकार ने कुछ प्रतिबंध लगाकर सम्पूर्ण शिक्षा विभाग भारतीय मंत्रियों को सौंप दिया।

## हर्टोग समिति प्रतिवेदनः-

1927 में जब भारत में प्रशासनिक कार्यो की जांच के लिए साइमन कमीशन आया तो उसने शैक्षणिक मामलों की जांच के लिए एक उपसमिति नियुक्त की। चूंकि यह समिति सर फिलिप हर्टोग के नेतृत्व में नियुक्त की गयी थी, अतः इसे हर्टोग समिति कहते हैं। इस समिति ने अपनी सिफारिशों में भारतीय विश्वविद्यालयों के बारे में कहा– ''यह स्पष्ट है कि भारत की आवश्यकताएं केवल एकात्मक विश्वविद्यालयों से पूरी नहीं हो सकती हैं लेकिन विभिन्न कालेजों को अपने साथ संबद्ध करने वाले विश्वविद्यालय अभी कई वर्षो तक बने रहने की सम्भावना है।

समिति के प्रतिवेदन में कहा गया है कि– ''हमारे शिक्षा की सम्बृद्धि के बारे

में जो पुनरीक्षण किया है उससे भारत के राजनीतिक भविष्य के सम्बन्ध में मूलभूत हित की गई बातों का पता चलता है। चूंकि प्राथमिक विद्यालयों की छात्र संख्या में भारी वृद्धि हो गयी है। अतः ज्ञात होता है कि जनता की पुरानी उदासीनता अब समाप्त हो रही है। भारत की महिलाओं में भी अब सामाजिक और राजनीतिक जागृति फैली है और उनकी ओर से भी शिक्षा एवं भारतीय नियंत्रण की निन्दा की गयी है। दूसरा कारण यह था कि भारतीय लोकमत अब समझता था कि विद्यमान स्थिति में पहली आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा का और अधिक विस्तार किया जाय तथा अनिवार्य शिक्षण आरम्भ किया जाय।

इस प्रकार नौकरशाही और राष्ट्रवादी दोनों विचार धारा एक दूसरे का विरोध करती रहीं। इस विरोध का अन्त 1937 में भारत में प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना के साथ हुआ।

## भारत सरकार अधिनियम 1935 :-

1935 के इस अधिनियम में द्वैध शासन को समाप्त कर दिया। प्रान्तीय प्रशासन के क्षेत्र में स्व–प्रशासन की स्थापना की। सभी लोकप्रिय विषय भारतीय मंत्रियों के उत्तरदायित्व में सौंप दिये गये। शिक्षा भी इन्हीं विषयों में से एक थी। भारत सरकार अधिनियम 1935 ने सम्पूर्ण शैक्षिक क्रियाकलापों को केवल दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया– संघीय या केन्द्रीय, राज्य या प्रान्तीय शिक्षा का कार्य भारतीय मंत्रियों को सौंप दिये जाने से यह आशा की जाने लगी कि इनकी अध्यक्षता में शिक्षा के पुनर्गठन का कार्य अधिक दृढ़ता, सुचारिता और कुशलता पूर्वक किया जायेगा, लेकिन कोई ठोस प्रगति होने से पहले विश्व युद्ध छिड़ गया और भारतीयों की इच्छा के विरूद्ध उन्हें भी फंसा दिया

गया। युद्ध के आड़ में भारती में फिर से अंग्रेजों का निरंकुश शासन प्रारम्भ हो गया और शिक्षा के संबंध में जैसी आशा की जाती थी उस पर भी तुषारापात हो गया।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 को जब बहुत अधिक सफलता नहीं मिली तो यह आवश्यक समझा गया कि विश्वविद्यालय शिक्षा के विषय में सरकारी नीति को व्यापक बनाया गया। अतः 21 फरवरी 1913 को शिक्षा सम्बन्धी सरकारी संकल्प की घोषणा की गयी। इस संकल्प में यह कहा गया कि प्रत्येक प्रान्त में विश्वविद्यालय की स्थापना की जायेगी। विश्वविद्यालयों के अध्ययन क्रिया कलापों को प्रोत्साहन दिया जायेगा और विभिन्न कस्बों में स्थित महाविद्यालयों को यथा समय अध्ययन विश्वविद्यालय बना दिया जायेगा। लेकिन इस दिशा में कोई उपयुक्त कार्यवाही नहीं की गयी। क्योंकि सरकार का विश्वास था कि कोई कार्यवाही करने से पहले इस प्रश्न पर विशेषज्ञों द्वारा जांच कराना चाहिए और दूसरा कारण था कि विश्वयुद्ध छिड़ गया था।

1917 में सरकार ने पुनः इसी समस्या पर अध्ययन करने और प्रतिवेदन देने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किया। चूंकि इसके अध्यक्ष सर एस0ई0 सैडलर थे अतः इसे सैडलर आयोग भी कहा जाता है। यद्यपि यह केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में था लेकिन इसमें जिन समस्याओं पर विचार किया गया था वे अन्य विश्वविद्यालयों की भी समस्यायें थीं। इस आयोग ने माध्ययिमक शिक्षा तथा विश्वविद्यालय अध्यापन दोनों ही समस्याओं का अध्ययन किया था, क्योंकि उसका यह विचार था कि विश्वविद्यालय अध्यापन में सुधार करने के लिए भी माध्यमिक शिक्षा का सुधार करना आवश्यक है। अतः माध्यमिक विद्यालयों के पुर्नगठन के सम्बन्ध में इस आयोग ने महत्वपूर्ण परिवर्तन करने वाली सिफारिशें प्रस्तुत की। इसने विश्वविद्यालयों के

कार्य के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के अतिरिक्त स्त्री शिक्षा, अध्यापकों का प्रशिक्षण, प्रौद्योगिकी, वृत्तिक और व्यावसायिक प्रशिक्षण पर भी सुझाव दिये 1913 के शिक्षा सम्बन्ध सरकारी संकल्प और 1917–19 के कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रतिवेदन के परिणामस्वरूप बहुत से नये विश्वविद्यालय खोले गये 1916 में मैसूर में, 1917 में पटना में, 1915 में बनारस में, 1920 में अलीगढ़ में, 1920 में ही लखनऊ में और 1918 में हैदराबाद में उस्मानिया विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। इस सबके अतिरिक्त 1921 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय का पुर्नगठन किया गया।

विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयी शिक्षा के लिए लार्ड कर्जन ने जो धनराशि पांच वर्ष की अवधि के लिए निर्धारित की थी उसे बाद में स्थायी अनुदान बना दिया। 1921 और 22 तक तो वह अनुदान और भी बढ़ा दिया गया। लेकिन यह धनराशि अब भी शिक्षा के लिए वांछित ढंग से कम थी, सरकारी अनुदान तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त आय से विश्वविद्यालयों ने अपने लिये नये–नये भवन निर्मित कर लिए, पुस्तकालयों और प्रयोगशालाओं का विस्तार कर लिया और इस प्रकार वे अध्यापन क्रिया–कलापों को करने में और भी समर्थ हो गये। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया था कि भारतीय विश्वविद्यालयों के कार्य का समन्वय करने की आवश्यकता है। 1921 में इंग्लैण्ड में भारतीय विश्वविद्यालयों का पहला अखिल भारतीय बोर्ड स्थापित किया गया। इस बोर्ड में सभी भारतीय विश्वविद्यालय केन्द्रों में अपनी वार्षिक बैठकें करता रहा है और वह 1925 से विभिन्न विश्वविद्यालय केन्द्रों में अपनी वार्षिक बैठकें करता रहा। इसने विभिन्न दिशाओं में उपयोगी कार्य किया। इसी काल में पांच नये विश्वविद्यालयों का भी निर्माण हुआ। ये विश्वविद्यालय, दिल्ली नागपुर, आन्ध्र, आगरा और मद्रास में खोले

गये। इसी दौरान पुराने विश्वविद्यालयों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन का उददेश्य मुख्यतः विश्वविद्यालयों के प्रशासन में सुधार करना और उन्हें उच्च शिक्षा तथा अनुसंधान को और अधिक सुविधाएं देने के लिए समर्थ बनाना था। इस प्रकार ज्ञान की परिधि का विस्तार करने के लिए भारतीय विश्वविद्यालय पहले से युद्ध प्रारम्भ कर चुके थे। चूंकि इस काल में विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ी थी, जिससे विद्यार्थियों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी हुई। अतः बहुत से नये संकाय खोले गये और अनेकों नये पाठ्यक्रमों के अध्यापन की भी व्यवस्था की गयी। अंतविश्वविद्यालय बोर्ड भी इसी काल में अंतर्विश्वविद्यालय खेलकूद और प्रतियोगिताएं कराने लगा। इन कार्यकलापों सेदेश के विभिन्न भागों में विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के बीच सुरूचिपूर्ण सम्पर्क स्थापित हुआ और ये भारतीय के पल्लवित होते हुए राष्ट्रीय जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू बन गये।

1937 से 47 के बीच विश्वविद्यालयी शिक्षा का भारी प्रसार हुआ। विश्वविद्यालयी शिक्षा का यह भारी प्रसार कई कारणों से हुआ, जैसे युद्ध और भारत छोड़ो आन्दोलन के कारण जनता में सामान्य जागृति फैलना, माध्यमिक शिक्षा का प्रसार स्त्रियों और पिछड़े वर्गो में उच्च शिक्षा पाने के लिए तेजी से बढ़ती हुई इच्छा, युद्ध द्वारा किया गया द्रुत नगरीकरण, समाज के उन वर्गो द्वारा शिक्षा के लिए किया गया उदारतापूर्वक दान, जिन्होंने युद्धकाल में भारी मुनाफे कमाये थे। युद्ध के कारण प्रशिक्षित कर्मचारियों की मांग भी अधिक होने लगी, अतः सरकार ने विश्वविद्यालयी शिक्षा के प्रसार के लिए अधिक अनुदान दिये। इन तथा अन्य कई कारणों से भी विश्वविद्यालयों की भी स्थापना की गयी और छात्रों की संख्या में भी बहुत वृद्धि हुई।

यद्यपि शिक्षा का इतना प्रसार एक अच्छी बात थी लेकिन वास्तव में तो इसकी नींव कमजोर थी, विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में अभी और विस्तार किये जाने की आवश्यकता थी। इस बात को भी महसूस किया जा रहा था कि देश के विश्वविद्यालयों में छात्रों के लिए जो सीमित स्थान है, उनका भी पूरा लाभ नहीं मिलता है। इसके दो कारण थे– एक तो यह कि विश्वविद्यालयों में दाखिले के लिए विद्यार्थियों का चयन करने के प्रयास नहीं किये जाते थे। दूसरा यह कि बहुत से प्रतिभाशाली बालक विश्वविद्यालय में इसलिए दाखिला नहीं ले पाते थे क्योंकि उनके सामने आर्थिक बाधाएं थी और छात्रवृत्तियों की पर्याप्त व्यवस्था नहीं थी। अतः संस्था मे ऐसे अयोग्य छात्रों को दाखिल करके जिन्हें दूसरे कारोबारों में लग जाना चाहिए था और ऐसे अनेक श्रेष्ठ परन्तु निर्धन विद्यार्थियों को दाखिल न करके जिन्हें दाखिल किया जाना चाहिए था। इस प्रकार की पद्धति में जो सहज सामाजिक अन्याय और अपव्यय होता था उसे इस काल में पहले की अपेक्षा अधिक महसूस किया गया, क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध ने सामाजिक न्याय और सभी के लिए शैक्षिक अवसरों की समानता के विचारों को बहुत व्यापक रूप से फैला दिया था। विश्वविद्यालय शिक्षा का एक अन्य तथा गम्भीर दोष यह भी था कि कुल छात्र संख्या में वृद्धि होने के बावजूद वैज्ञानिक, तकनीकी, कृषि अथवा व्यावसायिक शाखाओं से बाहर आने वाले प्रशिक्षित व्यक्ति देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बहुत अपर्याप्त थे। लेकिन इससे पहले कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा के क्षेत्र में कोई ठोस कदम उठाये जाते भारत में 1947 में ब्रिटिश शासन का अन्त हो गया।

कलकत्ता विश्वविद्यालयों आयोग की एक सबसे महत्वपूर्ण सिफारिश थी कि विद्यालय शिक्षा तथा विश्वविद्यालय शिक्षा के बीच विभाजन की रेख मैट्रिक परीक्षा

नहीं वरन् इण्टर कक्षाएं वास्तव में उच्च विद्यालय पाठ्यक्रम का अंग है और इन कक्षाओं में विद्यार्थियों को उन प्रणालियों की अपेक्षा विद्यालय प्रणाली से ज्यादा प्रभावी रूप से पढ़ाया जा सकता है। जिन्हें सामान्यतः विश्वविद्यालयों में अपनाया जाता है। अतः आयोग ने सिफारिश की कि विशिष्ट उच्च विद्यालयों में दो कक्षाएं और जोड़कर इण्टरमीडिएट महाविद्यालय नामक नई प्रकार की संस्थाएं स्थापित की जाय और विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम इण्टर परीक्षा के बाद आरम्भ हो तथा दो वर्ष के बजाय तीन वर्ष का हो। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आयोग ने यह भी सिफारिश की कि माध्यमिक तथा इण्टरमीडिएट शिक्षा बोर्ड की स्थापना की जाय और इस बोर्ड का मुख्य उद्देश्य आयोग द्वारा बताये गये आधारों पर उच्च विद्यालयों और इण्टरमीडिएट शिक्षा की मान्यता देना हो। इस सिफारिश का भारतीय शैक्षिक विचार धारा पर भारी प्रभाव पड़ा। और कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग का प्रतिवेदन आने के बाद अगले कुछ वर्षो में जो विश्वविद्यालय अधिनियम बने उनमें इण्टरमीडिएट शिक्षा को विश्वविद्यालयों के क्षेत्र से या तो निकाल दिया गया या निकाल देने का प्रस्ताव रखा गया। परन्तु शीध्र ही यह शैक्षिक मत बदलने लगा। इस विरोध के कुछ कारण निम्न हैः–

1. कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग जिस प्रकार इण्टरमीडिएट महाविद्यालयों की सिफारिश की थी उस प्रकार के महाविद्यालय उन आशाओं को पूरा नहीं कर सके, जो उनसे की जाती थी।

2. इण्टरमीडिएट कक्षा में उपाधि महाविद्यालयों के लिए आय का स्रोत है अतः इण्टरमीडिएट कक्षाओं को इन महाविद्यालयों से हटा दिया जायेगा तो उन्हें भारी आर्थिक घाटा होगा।

उपरोक्त तथा कई अन्य कारणों से भी इस मत का अधिकाधिक विरोध होता चला गया। इस प्रकार भारत में शैक्षिक विचार धारा सैडलर द्वारा दिये गये सुझावों के पूरी तरह विरूद्ध हो गयी। यद्यपि भारी संख्या में इण्टरमीडिएट महाविद्यालय खोले गये परन्तु आयोग की इस पूरक सिफारिश को स्वीकार नहीं किया गया कि पाठ्यक्रम की अवधि दो से बढ़कर तीन वर्ष कर दिया जाय।

हार्टोंग समिति ने इस विषय पर विचार किया परन्तु कोई निर्णयात्मक सिफारिश नहीं किया। इस विषय पर अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड ने विचार किया था और वह जिस परिणाम पर पहुंचा, वह भी इस सिफारिश के प्रतिकूल था। बाद में इस विषय पर केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने विचार किया। उसने समझौते का एक रास्ता निकाला और सुझाव दिया कि निम्न इण्टरमीडिएट कक्षा तो विद्यालय पाठ्यक्रम अंग बने और उच्च इण्टरमीडिएट कक्षा उपाधि कार्यक्रम का अंग बने। परन्तु इस काल में इस सुझाव को कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्थिति उतनी अच्छी नहीं थी जितनी विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि इस काल में विद्यालयों और छात्रों की संख्या में काफी वृद्धि हुई थी लेकिन अभी भी इसमें कई दोष थे। माध्यमिक शिक्षा के प्रसार के कई कारण थे, जैसे–जनता में जागृति फैलाना, छोटे–छोटे कस्बों ग्राम क्षेत्रों में माध्यमिक विद्यालयों का खुलना और जनता के कम उन्नति वर्गो के बीच उच्च शिक्षा का प्रसार करने के लिए किए गये विशेष प्रयत्न। इस काल में जनता के बीच भारी जागृति फैली। इस जागृति के फलस्वरूप उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा जनता में उत्पन्न हुई और उस इच्छा परिणाम यह हुआ कि जनता के वे वर्ग भी अब अपने बालकों को माध्यमिक विद्यालयों में

भेजने लगे जिन्होंने उच्च शिक्षा के बारे में कभी सोचा भी नहीं था। इस प्रसार का एक अन्य कारण यह भी था इसका कुछ व्यक्तियों एवं संस्थाओं में कुछ कस्बों और बड़े–बड़े गावों में बड़ी संख्या में नये माध्यमिक विद्यालय खोले। ये विद्यालय या तो स्थान विशेष से प्रेम होने के कारण खोले गये या माता–पिता के इस इच्छा के कारण कि उनका सुकुमार बालकों को अपने इलाके में माध्यमिक शिक्षा मिले। कुछ ऐसे लोगों ने भी ऐसे विद्यालय खोले जो गांव या पिछड़े लोगों ने भी ऐसे विद्यालय खोले जो गांव या पिछड़े क्षेत्रों में उच्च शिक्षा का प्रसार करना चाहते थे।

इस काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह भी थी कि माध्यमिक स्तर पर आधुनिक भारतीय भाषाओं को बडे पैमाने पर शिक्षा माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया गया परन्तु कथनी और करनी में भेद रहा और अनेक कारणों से शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग को पूरी तरह से नहीं छोड़ा गया। इसमें सबसे बड़ी बाधा यह थी कि विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता था। अतः अब शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान इस प्रकार की समस्याओं की ओर गया जैसे विश्वविद्यालय में शिक्षा माध्यम की समस्या, भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा विकास की समस्या और एक रूप वैज्ञानिक शब्दावली तैयार करने की समस्या। करीब 1937 के बाद से इसमें से कई कठिनाइयों का समाधान हो गया। लेकिन विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम अब भी एक महत्वपूर्ण समस्या थी।

1905 से पहले माध्यमिक शिक्षकों को प्रशिक्षित करने का जो अभियान चला वह इस काल में और भी अधिक तेज हो गया। इसके अतिरिक्त सरकारी विद्यालयों के अध्यापकों के साथ–साथ गैर सरकारी विद्यालयों के वेतन और सेवा शर्तों में सुधार

हुआ। इसके साथ ही इस काल में व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करने की समस्या और भी अधिक महत्वपूर्ण तथा जटिल बन गयी। इसके तीन कारण थे पहला यह था कि माध्यमिक शिक्षा का प्रसार होने से बहुत से इस प्रकार के छात्र भर्ती हुए जिन्हें माध्यमिक विद्यालयों में दी जानी वाली शिक्षा पूरी तरह सुविधाजनक प्रतीत नहीं हुई क्योंकि वह पूर्णरूप से साहित्यिक थी। दूसरा कारण था कि गांवों में भारी संख्या में माध्यमिक स्कूल खुलने से इन माध्यमिक विद्यालयों को गांव की आवश्यकता और परिवेश के अनुकूल बनाने की समस्या थी। अन्तिम कारण यह था कि माध्यमिक कन्या विद्यालय की संख्या में भारी वृद्धि हो जाने से उनकी आवश्यकताओं के अनुसार पाठ्यक्रम तैयार करने की समस्या थी। इन सब कारणों को देखते हुए भारत सरकार ने इंग्लैण्ड की सरकार से यह प्रार्थना की कि वह कुछ विशेषज्ञों को भारत भेजे तो इस समस्या का अध्ययन करके कुछ सुझाव दे सके। इसलिए वुड़ और ऐबट भारत आये और यहां पर जांच करने के बाद उन्होंने अपना महत्वपूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इसी प्रतिवेदन के आधार पर प्रान्तीय सरकारों ने तकनीकी, वाणिज्य अथवा कृषि उच्च विद्यालय खोले और इसी प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करने वाले गैर सरकारी भारी अनुदान देने शुरू किये। युद्ध ने इस प्रवृत्ति में और भी सहायता दी और तकनीकी शिक्षा की मांग बढ़ गयी। माध्यमिक स्तर पर 1937 से 47 के बीच पहली बार व्यावसायिक पाठ्यक्रम की व्यवस्था करने के लिए कुछ प्रभावी कार्यवाहियां की गई, लेकिन धनाभाव के कारण और प्रशिक्षित अध्यापकों के कारण ये प्रगति धीमी रही।

हर्टौग समिति ने भी माध्यमिक शिक्षा पर कोई महत्वपूर्ण सुझाव नहीं दिये केवल इसके कुछ दोषों को दूर करने का उपाय बताये हैं समिति ने छात्रों को गैर

साहित्यिक व्यवसायों की ओर भेजने और माध्यमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण एवं सेवा की शर्तों में सुधार की सिफारिश की।

1937 और 47 के बीच माध्यमिक शिक्षा की प्रसार की गति कुछ धीमी पड़ गयी। इसके दो कारण थे, पहला यह था कि माध्यमिक शिक्षा के प्रसार की गति धीमी हो गयी थी। दूसरा यह कि युद्ध के कारण जो आर्थिक स्थिति उत्पन्न हो गयी थी जिससे लोग एक ओर बढ़ते हुए निर्वाह व्यय और दूसरी और शिक्षा व्यय से ग्रस्त हो रहे थे। उपरोक्त कारणों का परिणाम यह हुआ कि इस दशक में माध्यमिक शिक्षा प्रसार की गति धीमी पड़ गयी।

लार्ड कर्जन ने प्राथमिक शिक्षा के लिए अधिक अनुदान देने की नीति का प्रारम्भ किया जिससे 1905 से 1912 के बीच माध्यमिक शिक्षा का काफी प्रसार हुआ। लेकिन शीध्र ही लोग महसूस करने लगे कि सरकार गुणात्मक सुधार को प्रमुखता दे रही है और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्त को कोई महत्व नहीं दे रही है। भारतीय राष्ट्रवादियों ने इसे स्वीकार नहीं किया और वे सरकार पर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ करने के लिए दबाव डालने लगे। श्री गोपाल कृष्ण गोखले इस मांग के बहुत बड़े समर्थक थे। उन्होंने इस संबंध में अपना एक प्रतिवेदन भी 19 मार्च 1910 में प्रस्तुत किया। यद्यपि इस प्रतिवेदन पर काफी वाद–विवाद हुआ लेकिन अन्त में इसे रद्द कर दिया गया। यद्यपि इस प्रतिवेदन को स्वीकार नहीं किया था लेकिन गोखले के इन प्रयत्नों के अप्रत्यक्ष परिणाम स्वरूप ही सरकार प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में क्रियाशील रही। सरकार इस जनतांत्रिक मांग की उपेक्षा नहीं कर सकी कि प्राथमिक शिक्षा का प्रसार किया जाय। 1913 के सरकारी संकल्प में यह आशा व्यक्त की गयी कि यद्यपि सरकार का मुख्य लक्ष्य

सुधार करना होगा तथापि वह प्रसार की उपेक्षा नहीं करेगी और विद्यालयों तथा छात्रों की संख्या को दुगुना करने के लिए कदम उठाये जायेगें। लेकिन बाद की घटनाओं से पता चलता है कि यह आशाएं नहीं हुई।

परिणाम के बजाय गुण के प्रति सरकारी रूचि होने से 1911–12 के पश्चात प्राथमिक शिक्षा का प्रसार अपेक्षाकृत धीमी गति से हुआ। अतः भारत में प्राथमिक शिक्षा की परिणात्मक स्थिति अच्छी नहीं थी। इस समय की सबसे महत्वपूर्ण गुणात्मक उपलब्धि यह थी कि प्राथमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण में सुधार हुआ। लेकिन अध्यापकों के वेतन की समस्या पहले के समान ही रही और युद्ध के बाद तो यह और अधिक उभर कर सामने आ गयी। मूल्यों में परिवर्तन होने से अध्यापकों के निर्वाह व्यय में तेजी से वृद्धि हुई और अध्यापकों की आर्थिक दशा खराब हो गयी। अध्यापकों ने अधिक वेतन के लिए आन्दोलनों और हड़तालों का सहारा लिया। इन आन्दोलनों और हड़तालों का प्रभाव पड़ा और उनके वेतनमानों में सुधार किया गया। लेकिन दुर्भाग्यवश निर्वाह व्यय में इतनी अधिक वृद्धि हो रही थी कि पारिश्रमिक में जो वृद्धि हुई, उससे भी प्राथमिक अध्यापकों की स्थिति सुखद नहीं रही। इस काल में पाठ्यक्रम में भी संशोधन किये गये, उसमें अनेक विषय जोड़कर उसे जटिल और विस्तृत कर दिया गया। भवनों और साज सामान की स्थिति में भी सुधार हुआ लेकिन इस काल में प्राथमिक शिक्षा का इतनी तेजी से प्रसार हो रहा था कि देश में कई जगहों पर भवन और साज सामानों सम्बन्धी स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ ही गयी। प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम का मुख्य उद्देश्य यह था कि छात्रों को मातृभाषा के द्वारा पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा दी जाए। इसके अलावा एक उद्देश्य यह भी था कि छात्रों को माध्यमिक विद्यालयों के लिये तैयार किया जाय और

छात्रों को सरकारी सेवा के ऐसे निम्न पदों के लिए तैयार किया जाय जिनके लिए अंग्रेजी ज्ञान आवश्यक नहीं था। इस प्रकार भारी अपव्यय और गतिरोध हो रहा था। अतः कहा जा सकता है कि गुणात्मक मामलों में प्राप्त की गयी सफलता संतोषजनक नहीं थी।

1919 में भारत में द्वैध शासन के अन्तर्गत भारतीय शिक्षा के इतिहास में सार्वजनिक शिक्षा का तेजी से विकास हुआ। अब तक सार्वजनिक शिक्षा की धीमी प्रगति भारत की आधुनिक शिक्षा पद्धति की सबसे कमजोर कडी थी और इसी कारण प्रायः सरकारी नीति की आलोचना की जाती थी। भारतीय लोकमत ने सार्वजनिक शिक्षा के प्रति और निरक्षरता समाप्त करने के कार्य में गहरी रूचि दिखाई। जब शिक्षा विभाग भारत मंत्रियों के नियंत्रण में कर दिया गया तो यह आश की जाने लगी कि यह भारतीय मंत्री निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की समस्या को हल करने की कोशिश करेगें और वास्तव में उन्होंने ऐसा किया भी। इस काल में ब्रिटिश भारत के अधिकांश प्रान्तों में अनिवार्य शिक्षा अधिनियम बनाये गये। इन अधिनियमों ने प्राथमिक शिक्षाा के प्रशासन और नियंत्रण सम्बन्धी भारी शक्तियों को उन स्थानीय शासनों को हस्तान्तरित कर दिया जिन्हें यह उत्तरदायित्व सौंपा गया था कि वे अपने क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्था करें।

1937 के बाद में भारत में महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में आयी और 1947 तक इसने स्थायित्व प्राप्त कर लिया।

**सार्जेन्ट योजना 1944 :-**

1935 से ही केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड भारतीय शिक्षा के पहलुओं की जांच कर रहा था और 1943 में वह इस स्थिति में पहुंच गया था कि अपने सभी जांच

परिणामों को एकत्र करके वह शैक्षिक विकास की एक विस्तृत योजना तैयार कर लें। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् युद्धोत्तर विकास योजनाओं के अन्तर्गत केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड से भी यह कहा गया कि वह युद्धोत्तर शैक्षिक विकास योजना तैयार करें। तदनुसार बोर्ड ने 1944 में एक विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। यह योजना भारत सरकार के शिक्षा परामर्शदाता सर जान सार्जेन्ट ने तैयार की थी। अतः यह सार्जेन्ट योजना के नाम से प्रसिद्ध है।

इस योजना का लक्ष्य चालीस वर्ष से कम समय में भारत में उन शैक्षिक उपलब्धियों का वही स्वर प्राप्त कर लेना था जो इंग्लैण्ड को पहले ही प्राप्त हो चुका था। प्रतिवेदन में प्राथमिक शिक्षा के लिए कुछ संशोधनों के साथ बुनियादी शिक्षा योजना को स्वीकार किया गया है। इसमें यह भी कहा गया है कि उच्च विद्यालय का कार्य उन बालकों की आवश्यकताओं को पूरा करना है जो योग्यता में औसत दर्जे से ऊँचे हैं। अतः वह केवल योग्यताओं, अभिक्षमताओं और सामान्य उदीयमानता के आधार पर चले गये छात्रों को दाखिल करेगा। उच्च विद्यालय पर्याप्त फीस लेगें और 50 प्रतिशत छात्रों को निःशुल्क शिक्षा छात्रवृत्तियां और इसी प्रकार की कुछ अन्य रियायतें भी देनी होगी और बालक की शिक्षा में निर्धनता के कारण बाधा नहीं पड़ने दी जायेगी। इसमें उच्च शिक्षा को विश्वविद्यालय शिक्षा की केवल प्रारम्भिक तैयारी न मानकर स्वयं में एक पूर्ण चरण माना जाना चाहिए। उच्च विद्यालय मुख्यतः दो प्रकार के होगें, शैक्षिक और तकनीकी।

इस प्रतिवेदन में यह भी कहा गया है कि सभी विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम छात्रों की मातृभाषा हो और अंग्रेजी एक अनिवार्य द्वितीय भाषा हो। इसमें 6 से 14 वर्ष के बालकों के लिए निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा आरम्भ करने का निश्चय किया गया।

बेसिक शिक्षा को दो भागों में बांट दिया गया निम्न स्तर और उच्च स्तर। उच्च विद्यालय छोड़ने के बाद जो छात्र विश्वविद्यालय पाठ्यक्रमों में भर्ती होते हैं उनके संबंध में प्रतिवेदन में यह मान लिया गया है कि 15 में से एक विद्यार्थी उस स्तर पर पहुंच ही जायेगा जो विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए अपेक्षित है। जहां तक तकनीकी शिक्षा का सम्बन्ध है, इसमें भारतीय कलाओं और उद्योगों के लिए आपेक्षित व्यक्तियों को चार भागों में बांटा गया है– भविष्य के मुख्य कार्यपालक और अनुसंधान कार्यकर्ता, गौण कार्यपालक, फोन मैन चार्ज हैण्ड, कुशल शिल्पकार, अर्द्धकुशल और कुशल श्रमिक। प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम की व्यवस्था के सम्बन्ध में भी प्रतिवेदन में कुछ बातें कही गयी हैं। इसमें भारतीय विश्वविद्यालयों में तत्कालीन स्थिति से संबंधित दोष भी बताये गये हैं जिसमें से सबसे गम्भीर दोष यह है कि भारतीय विद्यालय अपने क्रियाकलापों का समाज की व्यवहारिक आवश्यकताओं के साथ पर्याप्त रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाये हैं। उनकी ओर से इस बात के लिए भी कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किया जाता है कि विश्वविद्यालय से पढ़कर निकलने वाले छात्रों की संख्या का रोजगार पा लेने वाली क्षमता के साथ समायोजन किया जाय।

जब यह सार्जेन्ट योजना प्रस्तावित की गयी तो उस पर बहुत चर्चा हुई और इसकी विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचना की गयी। इसमें इतनी कमियां थी कि भारतीय शिक्षाविद इस प्रतिवेदन से सन्तुष्ट नहीं हुए। इस प्रतिवेदन ने देश के सामने बहुत ही प्रभावहीन आदर्श प्रस्तुत किया। इसमें प्रतिपादित धन सम्बन्धी सुझावों की भी बहुत आलोचना की गयी। यही कहा गया कि वित्तीय दृष्टि से यह योजना काल्पनिक है। ऐसा भी माना गया कि यह योजना केवल उस आदर्श का वर्णन करती है जिसे प्राप्त

करना है। परन्तु इसमें इस ओर विकास के लिए विस्तृत कार्यक्रम नहीं दिया गया है। इसके पहले कि इस योजना के आधार पर कोई ठोस कदम उठाये जाते, 15 अगस्त 1947 को भारत को स्वतंत्रता मिल गयी, जिससे यह योजना भी अपने आप ही समाप्त हो गयी।

**शिक्षा का प्रभाव :-**

उन्नसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा और चिन्तन के प्रसार के परिणामस्वरूप बडी संख्या में भारतीयों ने आधुनिक विवेकपूर्ण, धर्मनिरपेक्ष, जनतांत्रिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण ग्रहण किया। जिन्होंने यूरोपीय राष्ट्रों के तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलनों का अध्ययन और आदर किया तथा उत्साहपूर्वक उनका अनुसरण करने की कोशिश की। रूसो, हरबर्ट स्पेन्सर, मिल, वाल्टेयर, मिल्टन, मांटेस्क्यू तथा अन्य पाश्चात्य चिन्तकों के ग्रंथों का अध्ययन किया और ये लोग ही उनके राजनीतिक पथ प्रदर्शक बन गये, जबकि मेजिनी गैरीबाल्डी आदि नेता उनके राजनीतिक नायक बन गये। अंग्रेजी साहित्य राष्ट्रीयता, राजनीतिक स्वाधीनता और लोकतंत्र के विचारों से ओत–प्रोत था। इनके अध्ययन से भारतीयों में भी राजनीतिक स्वाधीनता व राष्ट्रीयता के नये विचार उत्पन्न होने लगे और वे भी भारत में इन संस्थाओं की मांग करने लगे।

इन शिक्षित भारतीयों ने ही सबसे पहले विदेशी अधीनता के अपमान को महसूस किया। अपने चिन्तन में आधुनिक बनने पर उन्होंने विदेशी शासन के कुपरिणामों का अध्ययन करने की योग्यता प्राप्त कर ली। अब वे एक आधुनिक शक्तिशाली समृद्ध और एक सूत्रबद्ध भारत का स्वप्न देख रहे थे। समयानुसार उनमें जो सर्वोत्तम थे, वे राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता तथा संगठनकर्ता बन गये।

यहां पर यह बात स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म नहीं दिया, बल्कि वह ब्रिटेन तथा भारत के हितों के टकराव का परिणाम था। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली ने शिक्षित भारतीयों को पाश्चात्य चिन्तन को ग्रहण करने में सहायता तो दी ही, साथ ही साथ, उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करने तथा उसे एक जनतांत्रिक और आधुनिक दिशा प्रदान करने में समर्थ बनाया। आधुनिक शिक्षा के कारण ही शिक्षित भारतीयों के बीच दृष्टिकोणों तथा हितों में कुछ समरूपता तथा समानता भी आई। इस संदर्भ में ''अंग्रेजी भाषा'' ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यही भाषा आधुनिक विचारों के प्रसार का माध्यम भी बन गयी। यह देश के विभिन्न भाषायी क्षेत्रों के शिक्षित भारतीयों के बीच विचारों के प्रसार और आदान–प्रदान का माध्यम भी बन गयी। लेकिन अंग्रेजी जल्दी ही समान्य जनता के बीच आधुनिक ज्ञान के प्रसार में बाधक भी बन गयी। उसने शिक्षित शहरी जनता को साधारण जनता, विशेषकर ग्रामीणों से अलग करने वाली दीवार का काम किया। भारत में अंग्रेजी पर जोर दिये जाने के कारण वह थोड़े से शहरी लोगों तक ही सीमित रही। इस तथ्य को भारतीय नेताओं ने पूरी तरह समझा। दादा भाई नैरोजी, सर सैय्यद अहमद खां और जस्टिस रानाडे से लेकर तिलक और गांधी जी तक सबने शिक्षा प्रणाली में भारतीय भाषाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिलवाने के लिए संघर्ष किया। जनता में आधुनिक विचारों का प्रसार विकसित हो रही भारतीय भाषाओं और उनमें विकसित होने वाले साहित्य के द्वारा हुआ।

आधुनिक शिक्षा ने सारे देश में एक ही प्रकार के पाठ्यक्रम लागू किये। पाठ्यक्रम द्वारा छात्रों को एक समान आर्थिक व राजनीतिक दृष्टिकोण प्रदान करने की ... शिक्षित भारतीय समान विचारों, भावनाओं, आकांक्षाओं

तथा आदर्शों की ओर अग्रसर हुए। इस काल की शिक्षा ने अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य इसके द्वारा पश्चिम की समस्त विचार धारा, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास और सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन से भारतीयों को जो परिचय कराया वह बहुत ही उपयुक्त समय पर हुआ। इस समय भारतीय सांस्कृतिक और समाज अपनी हीनतम अवस्था में थे और उन पर इस सम्पर्क का बड़ा जीवन दायक प्रभाव पड़ा। इसने भारतीय मस्तिष्क को "पुरानी दुनिया के विचारों की दासता से" मुक्त कर दिया और आधुनिक भारतीय जीवन में पुनर्जागरण की नींव रख दी।

# पंचम अध्याय

# पंचम अध्याय

## निष्कर्ष, शैक्षिक निहितार्थ एवं भावी शोध हेतु सुझाव

### निष्कर्ष तथा शैक्षिक निहितार्थः-

उपर्युक्त विवरण की समालोचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूति के लिए किया गया था लेकिन इसके उत्तरोत्तर परिणाम बहुत भिन्न निकले। आधुनिक शिक्षा भारतीय आन्दोलनकारियों के हाथों में वह सशक्त हथियार सिद्ध हुई जिसका प्रयोग उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये किये जाने वाले आन्दोलनों में किया। जिस समय अंग्रेज भारत में आये थे, उस समय भारतीय शिक्षा परिवर्तन की प्रतीक्षा कर रही थी। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की जड़े गहराई से जमाने के बाद अंग्रेजों ने शिक्षा की ओर ध्यान दिया। भारतीयों के लिए शिक्षा व्यवस्था किस प्रकार की हो, इस विषय पर काफी दिनों तक वाद–विवाद चलता रहा अंत में पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था के आधार पर ही उन्हें शिक्षित करने का निर्णय किया। इस विवाद में जिन भारतीयों ने अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन किया था वे वास्तव में बड़े दूरदर्शी थी। वे जानते थे कि सिर्फ अंधी देशभक्ति भारत की स्वत्रंता के लिए काफी नहीं होगी, क्योंकि इतने बड़े देशा का मुठ्ठी भर विदेशियों से पराजित होने का कारण देश के भीतर का वह सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक और बौद्धिक स्वरूप था, जिस पर ब्रिटेन ने अपनी संस्कृति और सभ्यता थोप दी थी। उनका विश्वास था कि भारत का विकास और स्वतंत्रता तब तक संभव नहीं है जब तक देश को आधुनिक न बनाया जाय और भारत को आधुनिक बनाने का कार्य ब्रिटेन सफलता पूर्वक करेगा। इसस प्रकार इन लोगों ने ब्रिटिश शासन को अपना हितैषी समझा औरर भारत को प्रथम स्वतंत्रता

संग्राम में, जो सन् 1857 में हुआ था, कोई भाग नहीं लिया। लेकिन शीघ्र ही उन्हें अपनी गलती का अहसास हो गया। इन्हें अब पता चल चुका था कि इनकी उम्मीदें गलत हाथों में पड़ गयी थी। जिसे वे भारत का आधुनिकीकरण समझ रहे थे, वह तो वास्तव में ब्रिटिश शासन का उपनिवेशीकरण था।

सन् 1858 के बाद से भारत की राजनैतिक परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन आ गया, अब कम्पनी के शासन के स्थान पर भारत पर इंग्लैण्ड की संसद का अधिकार हो गया था। सत्ता में परिवर्तन आने के साथ–साथ शैक्षिक गतिविधियों में भी कुछ तेजी आयी, जिसने भारत के राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। 19वीं शताब्दी के अन्त तक कई सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलनो का जन्म हुआ। इन सुधार आन्दोलनों को चलाने के दो प्रमुख कारण थे। पहला तो यह कि उस समय के समाज को ऐसे आन्दोलनों की बहुत आवश्यकता थी और दूसरा इन आन्दोलनों का सरकार की ओर से भी कोई विरोध नहीं हुआ। लेकिन शीघ्र ही एक ऐसे वर्ग ने जन्म लिया जो इन सुधार आन्दोलनों से सन्तुष्ट नहीं था। इस वर्ग की यह धारणा थी कि केवल इन सुधार आन्दोलनों से भारतीयों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकेगा वरन् उनकी दशा में परिवर्तन लाने के लिए राजनैतिक आन्दोलन की आवश्यकता है। अब तक अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार भी लगभग सारे भारत में हो चुका था। इसकी दो प्रमुख विशेषताएं थी एक तो शिक्षा का धर्म निरपेक्ष होना, दूसरा सभी स्थानों पर समान शिक्षा प्रणाली का होना। इस समान शिक्षा प्रणाली के द्वारा ही देश में एक ऐसे अखिल भारतीय शिक्षित वर्ग का जन्म हुआ जिसका समाज की ओर देखने का दृष्टिकोण भी समान था और जो कि जाति धर्म और क्षेत्र के परम्परागत विभाजन से ऊपर उठा हुआ था। अतः इन लोगों में

एक समान राष्ट्रीय दृष्टिकोण का भी जन्म हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक शिक्षा ने राष्ट्रवादिता के वाहक की भूमिका निभाई, जबकि अंग्रेजों ने इस शिक्षा की प्रणाली कुछ इस तरह तैयार की थी, जिससे उनके उपनिवेशवाद के हितों की सिद्धि हो सके। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से प्रभुसत्ता, मानवतावाद और जनतंत्र के जो नये विचार भारत में आये उन्होनें भारतीयों के बौद्धिक जीवन को प्रभावित किया और उनमें क्रांतिकारी भावनाएं भरना प्रारम्भ कर दिया। इन नये विचारों से भारतवासियों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति को समझने में भी मदद मिली। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटिश शासन अधिक प्रतिक्रियावादी हो गया था क्योंकि राष्ट्रीय जागृति के द्वारा ब्रिटिश शासकों को यह पता चल चुका था कि अब उन्होंने अपना ऐसा करने में कोई कसर भी नहीं छोड़ी। राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई भावनाओं को कुचलने के लिए ही लार्ड कर्जन ने सन् 1905 में बंगाल के विभाजन का आदेश पास किया। इस विभाजन के विरोध में भारतीयों की तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अब तक राष्ट्रीय आन्दोलनों की जो धीमी गति थी, वह भी अचानक बहुत तेज हो गयी। इस बंगभंग की नीति का ऐसा तीव्र विरोध हुआ कि विवश होकर सरकार को 1911 में इस आदेश को रद्‌द कर देना पड़ा।

प्राप्त विवरणों के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि भारत के स्वतंत्रता आन्दोलनों का नेतृत्व करने वाले राष्ट्रवादी नेता भी उच्च शिक्षित व्यक्ति थे। साधारण जनता में राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने में इन शिक्षित व्यक्तियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन बुद्धिजीवियों ने जब देखा कि अंग्रेज देश पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता और जातीयता जैसी विभाजक शक्तियों को उभार रहे हैं तो उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में राजनीतिक आन्दोलनों का संगठन

करने के लिए कमर कस ली। धीरे–धीरे इन राष्ट्रीय आन्दोलनों ने भारतीय समाज के प्रायः सभी वर्गों और दलों को अपने अंक में समेट लिया। शीघ्र ही इन लोगों ने यह महसूस किया कि उन राष्ट्रीय आन्दोलनों को व्यापक स्तर पर चलने के लिए एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता है। दूसरी ओर अंग्रेजों ने भी भारतीयों की बढ़ती हुई राष्ट्रवादिता की भावना को कम करने के लिए एक ऐसी संस्था के निर्माण के बारे में सोचा जो कि संवैधानिक रूप से भारतीयों की मांगों को सरकार के सम्मुख रख सकें। उपरोक्त दोनों भिन्न आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप कांग्रेस का जन्म हुआ। कांग्रेस को भारतीय राष्ट्रीय नेताओं और ब्रिटिश शासकों ने भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण से देखा। कांग्रेस संस्थापक श्री ए0ओ0 ह्ययूम का विचार था कि इसका उपयोग वह सुरक्षा नलिका (सेफ्टीवाल) के रूप में करेगें तो भारतीय नेताओं को उम्मीद थी कि वे श्री ह्ययूम का प्रयोग विद्युत प्रतिरोध ाक (लाइनिंग कंडक्टर) के रूप में करेगें। लेकिन कुछ ही समय बाद कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलनों का संचालन करने वाली संस्था के रूप में बदल गयी। इस परिवर्तन पर अंग्रेजों ने इसे "देशद्रोहियों का कारखाना" नाम दिया और फिर इसके हर कार्यो का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया।

अंग्रेजों का विचार था कि राष्ट्रीयता के विकास का प्रमुख कारण शिक्षा का प्रसार है। अतः उन्होंने अब शिक्षा पर नियंत्रण करना प्रारम्भ कर दिया। लेकिन भारतीयों में बढ़ती हुई शिक्षा की मांग के कारण वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके। जैसे–जैसे भारत में शिक्षा का विकास होता गया वैसे–वैसे राष्ट्रीय आन्दोलन में भी नई चेतना आती गयी। राष्ट्रीय शिक्षा की मांग भी इसी स्वतंत्रता आन्दोलन की एक कड़ी थी। लार्ड कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियों ने भारतीयों को राष्ट्रीय शिक्षा के प्रति प्रेरित

किया। इसी काल में भारत में उग्र राष्ट्रवादी आन्दोलन भी प्रारम्भ हो गया था, लेकिन गांधी जी के आगमन के साथ ही यह उग्रवादी आन्दोलन अहिंसा, सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलनों के रूप में बदल गया और यह आन्दोलन तब तक चलते रहे जबकि भारत को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो गयी। गांधी जी जानते थे कि यदि वे स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हिंसात्मक रूख अपनायेगें तो वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पायेगें। क्योंकि अंग्रेजी सेना के मुकाबले साधन विहीन भारतीय आन्दोलनकारियों का ठहर पाना सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए एक नया मार्ग अपनाया अहिंसात्मक आन्दोलनों का।

अब तक स्पष्ट हो चुका था कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए अब थोड़े से उच्च वर्गीय शिक्षित भारतीयों पर निर्भर रहना संभव नहीं है, वरन अब जन साधारण में भी राजनीतिक चेतना उत्पन्न करना चाहिए। अतः अब शिक्षित भारतीयों ने साधारण जनता को अपने देश के राजनीतिक जीवन के प्रति अन्तर्दृष्टि प्रदान की इनमें स्वतंत्रता के लिए प्रेम पैदा किया और विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए संघर्ष का रास्ता दिखाया। यद्यपि आधुनिक शिक्षा ने राष्ट्रीय आन्दोलनों को जन्म नहीं दिया फिर भी इसने इन शिक्षित व्यक्तियों को राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने में समर्थ बनाया और राष्ट्रीय आन्दोलनों को जनतांत्रिक और आधुनिक दिशा प्रदान की।

उपरोक्त विश्लेषण ये यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि अंग्रेजी शिक्षा ने स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयासों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन सिर्फ शिक्षा ही स्वतंत्रता प्राप्ति का कारण नहीं रही। वरन् इसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक कारण थे। शिक्षा तो स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयासों में सिर्फ एक साधन मात्र थी। लेकिन यह भी सच

है कि भारतीय राष्ट्रीयता के उद्भव और विकास में सबसे महत्वपूर्ण और रचनात्मक भूमिका भारत के शिक्षित वर्ग ने निभाई। आधुनिक शिक्षा के द्वारा ही भारतीय लोकतंत्र, स्वशासन, स्वतंत्रता समानता और बंधुत्व के विचारों को समझने में सफल हो सके थे। साथ ही इतनी तेजी से राजनीतिक चेतना का प्रसार भी शिक्षा द्वारा ही संभव हो सका था। अतः हम कह सकते हैं कि शिक्षा ने राष्ट्रीय आन्दोलनों का मार्गदर्शन और दिशा प्रदान की।

कुछ लोगों का ऐसा मत है कि राष्ट्रीय आन्दोलन आधुनिक शिक्षा पद्धति का ही परिणाम है। यह दावा गलत है क्योंकि कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर हमेशा शासन नहीं कर सकता है। यह तो इतिहास का शाश्वत नियम है कि विदेशी शासन का कभी न कभी तो विरोध होगा चाहे वह जिस भी देश में हो। ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि किसी भी पराधीन राष्ट्र में कभी कोई असंतोष और विरोध उत्पन्न ही न हो। यदि अंग्रेजों ने भारतीयों को शिक्षित करने का प्रयास न भी किया होता, तो भी कभी न कभी तो अंग्रेजी शासन के विरूद्ध आन्दोलन अवश्य होता, जिससे कि अंग्रेजी शासन का तख्ता पलट जाता। हां, लेकिन इतना अवश्य हो सकता था कि यह राजनीतिक चेतना काफी देर में आती और यह भी हो सकता था कि उससे भी ज्यादा समय, उस राजनीतिक चेतना के विकास और प्रसार में लगता और फिर शताब्दियों बाद जाकर कहीं सफलता मिलती। यद्यपि हम यह मानते हैं कि भारत के राजनीतिक आन्दोलन नई शिक्षा पद्धति के न होने पर भी प्रारम्भ हुआ होता लेकिन इसके साथ ही यह भी मानते हैं कि नई शिक्षा पद्धति ने ही भारत में राजनीतिक आन्दोलनों को एक शक्ति प्रदान की, भारतीयों को अन्तर्दृष्टि दी और उनमें स्वतंत्रता के प्रति प्रेम पैदा किया और विदेशी शासन

ने संघर्ष करने का मार्ग दिखलाया। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि शिक्षा भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रमुख कारण नहीं है तो भी इसने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अग्रणी भूमिका निभायी है।

## भावी शोध हेतु सुझावः-

यह शोध कार्य एकलघु शोध कार्य है और सीमित साधनों के माध्यम से इसे पूर्ण किया गया है। उपरोक्त विषय पर भविष्य में अन्य शोध भी किये जा सकते है जिसमें कि अन्य पुस्तकों, शासकीय अभिलेखों, विभिन्न व्यक्तियों की आत्म कथाओं और समाचार पत्रों तथा व्यक्तियों के प्रतिवेदन के आधार पर विस्तृत और प्रमाणिक विवरण प्राप्त करके और भी विस्तार से इस विषय का विश्लेषण किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विद्वान शिक्षा शास्त्रियों और इतिहासकारों के साथ साक्षात्कार भी किया जा सकता है और उनके आधुनिक दृष्टिकोणों के आधार पर इस विषय पर जानकारी प्राप्त करने में सफलता मिल सकती है।

प्रस्तुत शोध कार्य मुख्यतः सन् 1857 से 1947 तक के शैक्षिक विकास के अध्ययन से सम्बन्धित है। शोधकर्ता यदि चाहे तो स्वतंत्रता आन्दोलन काल की शिक्षा का स्वतंत्र भारत की शिक्षा पर पड़ने वाले प्रभाव का आलोचनात्मक अध्ययन कर सकता है।

स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने वाले शिक्षा शास्त्रियों के जीवन एवं कार्य के सम्बन्ध में शोध कार्य भी नियोजित किया जा सकता है और कुछ शिक्षाशास्त्रियों के शैक्षिक योगदान की तुलना भी की जा सकती है। प्राथमिक, माध्यमिक का अलग तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है तथा विश्वविद्यालयी शिक्षा पर भी अलग से शोध किये जा सकते है।

# परिशिष्ट

# परिशिष्ट

सम्बन्धित ग्रंथ सूचीः-

1. जौहरी बी0पी0– भारतीय शिक्षा का इतिहास आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर, 1970

2. दीक्षित शम्भु शरण– राष्ट्रीयता तथा भारतीय शिक्षा जालन्धर एशियन पब्लिशर्स, 695 माडल टाउन, 1968

3. रावत प्यारे लाल– भारतीय शिक्षा का इतिहास, आगरा, भारत पब्लिकेशन्स 1003 बेलनगंज, 1956

4. नायक जे0पी0 तथा सैय्यद नूरूल्लाह–भारतीय शिक्षा का इतिहास नई दिल्ली दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, 1976

5. रस्तोगी पी0–स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास मेरठ, सुनील प्रकाश 154, मोरी पाड़ा, 1981

6. ग्रोवर–आधुनिक भारत नई दिल्ली, चंद एण्ड कम्पनी लिमिटेड रामनगर नई दिल्ली, 110055, 2002

7. कपूर सरला– आधुनिक भारत का सरल, इतिहास, लखनऊ, सुनीता प्रकाशन 235, नजीराबाद रोड, 1976

8. त्रिपाठी विपिन चन्द्र, अमलेश वरूण दे– स्वतंत्रता संग्राम नई दिल्ली–16 ग्रीन पार्क 2001

9. पामदत्त, रजनी–आज का भारत में दिल्ली मैकमिलन इंडिया लिमिटेड दिल्ली, बम्बई, पटना, मद्रास, एस0जी0 वसानी 2/10 अंसारी रोड़, 1975